शिक्षा के विमर्श में व्यापक रूप से व्याप्त उथलापन आज किसी को चौंकाता नहीं है। यह हमारे लिए चिंता का विषय है। आज के शिक्षाव्यवस्थापकों में न तो रूढ़ियों से हटने का साहस है, न उनकी प्राथमिकताएं स्पष्ट हैं। उनकी शिक्षा की व्याख्या में शब्दाडंबर की भरमार है।

रवींद्रनाथ ठाकुर शिक्षा में मानवमूल्य और मानवधर्म की बात करते थे जबकि आज की शिक्षानीति मानव को संसाधन मानती है। शिक्षित मनुष्य की हमारी छवि में आया यह अंतर विगत आठ-नौ दशकों में हमारे समाज द्वारा तय की गई विचारधारा का पैमाना है।

रवींद्रनाथ के समय के वैचारिक माहौल का अंदाजा आसानी से नहीं लगाया जा सकता जो उपनिवेशवाद के विरोध में समूचे भारत में बना था। औपनिवेशिक शिक्षा की समीक्षा और उसके विकल्प की तलाश उस माहौल का एक महत्वपूर्ण संदर्भबिंदु था जिसने शिक्षा में नए-नए प्रयोगों को जन्म दिया था।

रवींद्रनाथ के शैक्षिक विचार इसलिए और प्रासंगिक हो गए हैं कि संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्र में आज पुनः हम चौतरफा उपनिवेशवादी आक्रमण का सामना कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में रवींद्रनाथ के शिक्षा विषयक लेखों को एकत्र किया गया है। इसमें उनका आग्रह बच्चों को ऐसी शिक्षा देने पर है जो बच्चों के परिवेश और जीवन-व्यवहार से जुड़ी हो, जो उनके भीतर छिपी रचनात्मक ऊर्जा को प्रोत्साहित करती हो। पुस्तक पढ़कर पाठक आज की शिक्षाव्यवस्था को सही परिप्रेक्ष्य में देख सकता है।

यहां रवींद्रनाथ के लेखों के अलावा उनके शैक्षिक ऐतिहासिक चिंतन पर भवतोषदत्त, सव्यसाची भट्टाचार्य तथा नामवर सिंह के लेखों को भी दिया गया है। इससे रवींद्रनाथ के चिंतन को समझने में मदद मिलती है।

रवींद्रनाथ ठाकुर (1860-1941) : भारत के विख्यात कवि कथाकार, नाटककार और साहित्य चिंतक के रूप में जाने जाते हैं। साथ ही संगीत और शिक्षा के क्षेत्र में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान है। उपनिवेशवादी शिक्षा का विकल्प प्रस्तुत करने के प्रयास में शहर के भीड़भाड़ से अलग बोलपुर में उन्होंने शांतिनिकेतन (विश्वभारती) की स्थापना की थी। शिक्षा में उनके विचार दूसरों से भिन्न थे। इसलिए कई लोग उन्हें भारतीय शैक्षिक चिंतन का रूसो कहते हैं।

गोपाल प्रधान (अनुवादक) का जन्म (1964) नारायणपुर (पश्चिम बंगाल) में हुआ है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय से एम.ए. करने के बाद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एम.फिल. और पी-एच.डी. की उपाधि ली है। छात्र जीवन से ही मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माले) लिबरेशन की राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे हैं। उन्होंने कई पुस्तकों का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया है। इनमें आर्नल्ड हाउजर की पुस्तक *कला का इतिहास दर्शन*, टी.बी. बॉटमोर की पुस्तक *समाजशास्त्र* विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ISBN : 81-7917-064-0

मू. 75.00

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड
B-7, सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक,
लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

शिक्षाशास्त्र के नए क्षितिज

रवींद्रनाथ का शिक्षादर्शन

रवींद्रनाथ ठाकुर

रवींद्रनाथ का शिक्षादर्शन

रवींद्रनाथ ठाकुर

अनुवादक
गोपाल प्रधान

ग्रंथ शिल्पी
नई दिल्ली 110002

ग्रंथ शिल्पी

© ग्रंथ शिल्पी
प्रथम हिंदी संस्करण 1977
संशोधित संस्करण 2004
ISBN : 81-7917-063-2 (Hb)
ISBN : 81-7917-064-0 (Pb)

श्यामबिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-7,
सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110 092 के लिए प्रकाशित
तथा डी.पी. ग्राफिक्स, उत्तम नगर, नई दिल्ली 110059 द्वारा
लेजर सेट होकर नाइस पिंटिंग प्रेस, दिल्ली 110 051 में मुद्रित.

विषयानुक्रम

प्रस्तावना : कृष्ण कुमार
vii

भाग एक : परिचय

1. संक्षिप्त जीवन परिचय : भवतोष दत्त
3

2. श्रीनिकेतन की स्थापना : एल.के. एमहर्स्ट
35

3. शिक्षासत्र : एल.के. एमहर्स्ट
53

4. रवींद्रनाथ का शिक्षादर्शन और विश्वभारती : सव्यसाची भट्टाचार्य
67

भाग दो : रवींद्रनाथ के शैक्षिक निबंध

5. ग्रामीण भारत की शिक्षा
85

6. शिक्षा का प्रसार
90

7. आश्रम शिक्षा
98

8. कवि का स्कूल
104

9. शिक्षा में अंगसंचालन की कला
119

10. श्रीनिकेतन का दार्शनिक दृष्टिकोण
126

भाग तीन : परिशिष्ट

1. तोते की शिक्षा : रवींद्रनाथ ठाकुर
137

2. भारत के इतिहास का संदेश : रवींद्रनाथ ठाकुर
141

3. रवींद्रनाथ ठाकुर की इतिहासदृष्टि : नामवर सिंह
145

प्रस्तावना

रवींद्रनाथ ठाकुर यदि आज जीवित होते तो शिक्षा के विमर्श में व्यापक रूप से विद्यमान वैचारिक उथलेपन से चौंक उठते। रूढ़ियों से हटने के साहस का अभाव, प्राथमिकताओं की अस्पष्टता और शब्दों के आडंबर से उन्हें गहरी चोट पहुंचती। ठाकुर की दृष्टि से देखें तो शिक्षा की अवधारणा का संकोचन ही आज के संकट का मुख्य कारण है। ठाकुर ने मानव धर्म की बात उठाई थी, आज की शिक्षानीति मानव को एक संसाधन मानती है। शिक्षित मनुष्य की हमारी छवि में आया यह अंतर विगत सात-आठ दशकों में हमारे समाज द्वारा तय की गई विचारयात्रा का पैमाना है। रवींद्रनाथ का गद्य पढ़ते समय आज हम उस वैचारिक माहौल का अंदाज आसानी से नहीं लगा सकते जो उपनिवेशवाद के विरोध में समूचे भारत में बना था। औपनिवेशिक शिक्षा की समीक्षा और उसके विकल्प की खोज उस माहौल का एक महत्वपूर्ण संदर्भबिंदु थी। तेजी से फैलती हुई राष्ट्रवादी चेतना की परिधि में केए जा रहे जिन शैक्षिक प्रयोगों से शिक्षा की एक नई अवधारणा आकार ले रही थी, उनमें रवींद्रनाथ के प्रयोग का एक बड़ा स्थान था। जैसा कि प्रायः होता है, किसी विचार का संस्थाई प्रयोग बदलती हुई परिस्थितियों से अछूता नहीं रह पाता। इस कारण ठाकुर की संस्था से आज उस वैचारिक ऊर्जा और कल्पनाशीलता की कोई छाप ढूंढ़ पाना आसान नहीं है जिनके साथ यह संस्था आरंभ हुई थी। लेकिन इसी कारण ठाकुर के शिक्षासंबंधी लेखन को पढ़ने का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। यह थोड़ा दुःखद अवश्य है कि एक बड़े भारतीय चिंतक होने के बावजूद रवींद्रनाथ का शिक्षा संबंधी गद्य शिक्षाविज्ञान के छात्रों और प्रशिक्षण पा रहे अध्यापकों कों अनुपलब्ध रहा है, लेकिन इस बात के दुःख को पश्चाताप बनाना भी व्यर्थ है। पिछले दशक के मध्य से चल रहे शिक्षानीति संबंधी विचारविमर्श का खोखलापन अब एकदम उजागर हो चला है; इस कारण ठाकुर और गांधी जैसे प्रयोगशील भारतीय चिंतकों को पढ़ने के लिए किसी से जोर देकर कहना अब जरूरी नहीं रहा।

दो-तीन जुमले जान लेना रवींद्रनाथ ठाकुर के शिक्षादर्शन से परिचित होने का पर्याय बन गया है। उनका प्रकृतिवाद, मातृभाषा के प्रयोग पर जोर और मनुष्य की सार्वभौमिकता, इन्हीं दो-तीन बातों को दोहरा कर प्रशिक्षण संस्थाएं प्रतिवर्ष आने वाले नए छात्रों को ठाकुर का परीक्षोपयोगी ज्ञान दे डालती हैं। ठाकुर की कोई जीवित

विरासत न होना इस परीक्षोपयोगी ज्ञान से संतुष्ट हो रहने में छात्र के लिए मदद करता है। छात्र और उसके प्रशिक्षक दोनों ही इस बात के एहसास से वंचित रहते हैं कि उन्होंने रवींद्रनाथ के दर्शन और प्रयास के साथ कितना बड़ा अन्याय किया है। यह अन्याय दरेअसल एक परंपरा बन चुका है जो यदि अभी तक खंडित नहीं हुई है तो इसी कारण कि औपनिवेशिक शिक्षाव्यवस्था के केंद्र में स्थित ज्ञान की अवधारणा सुरक्षित रूप से बरकरार रही है। बिना कोई विशद ज्ञानमीमांसा रचे ठाकुर ने ज्ञान की औपनिवेशिक अवधारणाओं को मिटाने की कोशिश की थी, उनकी इस कोशिश का मूर्त रूप उनकी संस्था थी किंतु उनके सरल निबंधों में भी ऐसे कई इशारे हमें मिलते हैं जिनकी सहायता से हम ठाकुर की ज्ञान मीमांसा गढ़ सकते हैं। इस काम में मौजूद संग्रह में शामिल 'कवि का स्कूल' शीर्षक निबंध भी हमारी विशेष मदद कर सकता है।

यह एक आम मान्यता है कि बच्चों के शिक्षा के क्षेत्र में भारत ने अपना रूसो रवींद्रनाथ ठाकुर में पाया। मोटे तौर पर यह मान्यता सही मानी जा सकती है क्योंकि रूसो की तरह ठाकुर का दर्शन भी शिक्षा से उत्पीड़ित बच्चे की मुक्ति को समर्पित है। यह शायद महज संयोग नहीं है कि अपने-अपने समाज में रूसो और ठाकुर का जन्म और विकास ढहती हुई सामंती व्यवस्था और जन्म लेती हुई लोकतांत्रिक चेतना के वातावरण में हुआ। दोनों ने अपने-अपने समय की राजनीतिक व्यवस्था में बच्चों की शिक्षा के बहाने एक समग्र सांस्कृतिक विपत्तिबोध को पढ़कर दिखाने की चेष्टा की। इस तरह देखें तो हमें यह आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि पिछले पांच दशक ठाकुर की अवहेलना में व्यतीत हो गए हैं; आखिर रूसो के शिक्षा संबंधी चिंतन की प्रासंगिकता भी उसके जीवनकाल के डेढ़-दो सौ वर्ष बाद स्पष्ट हुई थी। इस सदी के पूर्वार्ध में उपजी राजनीतिक चेतना का अध्ययन अब एक नई तरह से शुरू हो रहा है, और हम यह मानकर चल सकते हैं कि रवींद्रनाथ का चिंतन, विशेषकर गांधी से उनका संवाद, इस अध्ययन में शामिल रहेगा। वर्तमान संग्रह में इतिहासकार सव्यसाची भट्टाचार्य और आलोचक नामवर सिंह के लेख इसी उद्देश्य से शामिल किए गए हैं कि ठाकुर के शिक्षादर्शन को ऐतिहासिक संदर्भ में समझने के जिज्ञासु छात्र कुछ शुरुआती बिंदु पा सकें।

शिक्षा विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007

कृष्ण कुमार

भाग एक

परिचय

1. संक्षिप्त जीवन परिचय

भवतोष दत्त

विश्व भारती के संस्थापक कुलाधिपति रवींद्रनाथ ठाकुर उन्नीसवीं सदी में कलकत्ता के एक पुराने संभ्रांत परिवार में पैदा हुए थे। उनके जन्म के एक सौ चार वर्ष पहले प्लासी की लड़ाई हो चुकी थी। इस लड़ाई के फलस्वरूप बंगाल और बाद में समूचे भारत का प्रशासन क्रमशः अंग्रेजों के हाथ में आ गया। अंग्रेजों का मतलब है इंगलैंड में स्थापित एक व्यापारिक संस्थान, 'ईस्ट इंडिया कंपनी' जिसे ब्रिटिश संसद के एक विधेयक के जरिए व्यापारिक अधिकार प्रदान किए गए थे। कंपनी यहां वाणिज्य और व्यापार के बहाने आई और नवाब से इस देश के शासन की शक्ति और अधिकार हड़प कर बैठी।

उस समय कलकत्ता विस्तृत खुले मैदानों का इलाका मात्र था। गंगा के पूरब तीन गांव थे : कालीकट, गोविंदपुर और सुतानुति। रवींद्रनाथ के परदादे खुलना स्थित बड़ोपाड़ा छोड़कर गोविंदपुर आ पहुंचे और यहीं बस गए। सेठ और बसाक उस समय प्रमुख व्यापारी थे और ब्रितानी कंपनी के साथ व्यापार करते थे। रवींद्रनाथ के पूर्वज पंचानन कुशरी इन्हीं लोगों के साथ साझे में काम करते थे। कुशरी लोग ब्राह्मण थे और छोटी जातियों के उनके कर्मचारी पंचानन को 'ठाकुर मोशाय' या 'ठाकुर' कहकर संबोधित करते थे। यही 'ठाकुर' अंग्रेज कप्तानों के आंग्ल उच्चारण के चलते 'टैगोर' हो गया और पंचानन ठाकुर पंचानन टैगोर हो गए। समय बीतने पर 'कुशरी' का कोई प्रयोग न रह गया और ठाकुर कुलनाम के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

पंचानन ठाकुर के नाती नीलमणि, दर्पनारायण और गोविंदराम ने पाथुरियाघाट इलाके में जमीन खरीद ली और वहीं स्थायी रूप से बस गए। नीलमणि और दर्पनारायण ने अंग्रेजों के राजस्व अधिकारी के बतौर काम किया और खूब पैसा पैदा किया। इन्हीं दोनों लोगों से कलकत्ता के दो मशहूर ठाकुर परिवारों की वंशबेलि फैली; एक जोड़ासांको की और दूसरी पाथुरियाघाट की। प्लासी की लड़ाई के बाद लंबे दिनों तक नीलमणि ठाकुर और दर्पनारायण ठाकुर ने पाथुरियाघाट में संयुक्त परिवार टिकाए रखा। 1784 में वे दो अलग परिवारों में बंट गए। नीलमणि ठाकुर के तीन बेटे थे : रामलोचन (1757 ?), राममणि (1759) और रामवल्लभ (1767) तथा एक बेटी थी कमलमणि (1773)। 1791

में नीलमणि की मृत्यु के बाद रामलोचन परिवार के मुखिया हुए। रामलोचन और राममणि ने मिलकर जमीन खरीदना शुरू किया। राममणि के बेटे द्वारकानाथ (1794-1846) रामलोचन के दत्तक पुत्र भी थें। इन्होंने अपने परिवार की भूमि और अन्य संपत्तियों में काफी बढ़ोत्तरी की।

उस समय शिक्षा की नई पद्धतियों से देश का परिचय होना अभी बाकी था। तब फारसी ही अदालत की भाषा थी और अभिजन यही भाषा पढ़ते-सीखते थे। अंग्रेजों के साथ द्वारकानाथ के संपर्कों ने उन्हें फारसी के साथ-साथ अंग्रेजी भी सीखने के लिए प्रेरित किया। कंपनी के कर्मचारियों के साथ उनके संपर्कों ने उनमें वाणिज्यिक कुशाग्रता का भी विकास किया और अपनी जवानी की शुरुआत में ही उन्होंने निजी वाणिज्यिक उद्यम शुरू कर दिया। शुरू में उन्होंने रेशम और नील की खरीदारी में मैकिंटोश एंड कंपनी की मदद की। इसके बाद इसी क्षेत्र में उन्होंने स्वतंत्र व्यवसाय शुरू किया। इसी समय अपनी संपत्ति के प्रबंधन-संचालन के क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त अनुभव हासिल हुए। यह संक्रमण का समय था जब नवाबों की प्रशासनिक और न्यायिक पद्धति की जगह अंग्रेजी कानून ले रहे थे। इनमें भी द्वारकानाथ प्रवीण हो गए। इसी योग्यता के कारण उन्हें बंगाल और बिहार, दोनों प्रांतों के कई जमींदारों ने अपना सलाहकार चुना। उनतीस वर्ष की अवस्था में वे चौबीस परगना के कलक्टर और 'नमक के एजेंट' बनाए गए और कुछ ही वर्षों में कर और आबकारी के राजस्व अधिकारी भी बन गए। इन नौकरियों के अलावा उनका स्वतंत्र व्यवसाय भी चलता रहा जिससे उन्हें काफी धन प्राप्त हुआ। उनके पास मैकिंटोश एंड कं. के शेयर भी थे। वे पहले बंगाली थे जिन्होंने बैंक की स्थापना की, 1829 में कुछ यूरोपीय लोगों के साथ उन्होंने यूनियन बैंक शुरू किया।

एक संसदीय अधिनियम के तहत 1833 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना वाणिज्यिक कारोबार समेट लिया और मात्र प्रशासन संभालने लगी। द्वारकानाथ ने मौका देखकर एक नई संस्था स्थापित की, उसका नाम था कार-टैगोर कंपनी। उन्होंने रानीगंज कोयला खदानों का पट्टा हासिल कर लिया, नील और चीनी का व्यापार भी चालू कर दिया और भू-संपत्ति भी काफी खरीदी। उस जमाने में उत्तरी बंगाल में एक बड़ा जमीन का इलाका उनके पास हुआ करता था।

बहरहाल, यह भौतिक सफलता ही द्वारकानाथ की संपूर्ण कथा नहीं बताती। अपनी प्रतिभा और विवेक को उन्होंने जनकल्याण के नानाविध कार्यों में लगाया। बंगाली समाज में परिवर्तन और हलचल के उस दौर में स्वभावतः अंग्रेजी शिक्षा और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रचार ने जगह बनाई। उनमें से तीन घटनाओं का हम उल्लेख करेंगे। 1814 में राममोहन राय कलकत्ता आए और बस गए। दूसरे, 1817 में अंग्रेजी शिक्षा के सुप्रसिद्ध केंद्र हिंदू

कालेज की स्थापना हुई। और तीसरे, उसी साल बंगला पत्रों का प्रथम प्रकाशन शुरू हुआ। इनमें से एक, *समाचार दर्पण* सिरामपुर मिशन द्वारा प्रकाशित हुआ जबकि दूसरा, *बंगाल गजट* गंगकिशोर भट्टाचार्य द्वारा। इन घटनाओं ने आगे चलकर अनेकानेक सामाजिक आंदोलनों और सामाजिक टकरावों को गति प्रदान की। इन आंदोलनों से द्वारकानाथ कई तरह से जुड़े हुए थे।

राममोहन के कलकत्ता आने के तुरंत बाद दो अविस्मरणीय प्रवृत्तियां प्रकट हुईं। 1815 में उन्होंने अपना वेदांत ग्रंथ प्रकाशित किया और हमारे अपने युग में एकेश्वरवादी हिंदूवाद को पुनर्जाग्रत किया। उस समय पौराणिक और लोक-उत्पत्ति के देवताओं की सांप्रदायिक छद्म धार्मिक पूजा प्रचलित थी, ईसाइयत का प्रचार जोरों पर था और तब तक इसलाम भी अपनी मोर्चेबंदी कर चुका था। राममोहन का इन दोनों बड़े धर्मों से कोई टकराव नहीं था, बजाए इसके वे ईसाई नैतिक आदर्शों और इसलामी एकेश्वरवाद, दोनों से प्रभावित थे। वे हिंदू धर्म का इस तरह सुधार करना चाहते थे कि उपनिषदों पर आधारित ब्रह्म का प्राचीन सिद्धांत फिर से स्थापित हो सके। ब्रह्म के इस सिद्धांत ने उन्हें सार्वभौमिक धर्म की धारणा के लिए प्रेरित किया। राममोहन के धार्मिक सुधारों के इस प्रयास से परंपरागत हिंदू समाज आंदोलित हो उठा। उसी समय राममोहन ने भेदभाव वाले सामाजिक रिवाजों के खात्मे की भी कोशिश की। सती प्रथा पर रोक लगाने के उनके प्रयास उन्नीसवीं सदी की कुछेक स्मरणीय घटनाओं में से एक है। इन सभी विनम्र प्रयासों के मामले में द्वारकानाथ राममोहन के साथ खड़े हुए। वस्तुतः वे घनिष्ठ मित्र थे और राममोहन के आदर्शों ने एक सृजनात्मक परंपरा का निर्माण किया जिसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी द्वारकानाथ, उनके बेटे देवेंद्रनाथ और फिर देवेंद्रनाथ के बेटे रवींद्रनाथ ने आगे बढ़ाया। द्वारकानाथ राममोहन के एकेश्वरवादी विश्वासों में शामिल नहीं हुए लेकिन सती जैसे सुधार आंदोलनों में उनके मददगार रहे।

कुछ निश्चित कारणों से राममोहन कलकत्ता में स्थापित हिंदू कालेज से प्रत्यक्ष संबंध न बना सके। लेकिन हिंदू कालेज की स्थापना का अर्थ ही था आधुनिकतावादी शैक्षिक सिद्धांतों का प्रवेश। शिक्षा की इस आधुनिक व्यवस्था में दीक्षित अनेक नौजवानों ने हमारे सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उदारतावादी विचारों के प्रचार का नेतृत्व किया। एच.एल.वी. डिरोजियो और डी.एल. रिचर्डसन जैसे इस कालेज के शिक्षकों के छात्र नवीन बंगला साहित्य के सृजन, विभिन्न सुधारों और अनेक राजनीतिक और राष्ट्रवादी विचारों के प्रचार के मामले में उन्नीसवीं शताब्दी के पांचवें या छठे दशक तक सक्रिय रहे। प्यारेचंद मित्र, कृष्णमोहन बंद्योपाध्याय, माइकेल मधुसूदन दत्त, भूदेव मुखोपाध्याय और कुछ आगे चलकर दीनबंधु मित्र, बंकिमचंद्र और अनेक दूसरे लोग हिंदू कालेज के छात्र रहे। रवींद्रनाथ

के पिता देवेंद्रनाथ भी इस कालेज से ही निकले थे। इस सदी के आचारों-विचारों के विकास में राममोहन और हिंदू कालेज ने अकूत योगदान किया। एक-एक कर मेडिकल कालेज, सार्वजनिक पुस्तकालय और विभिन्न सभाएं और संघ अस्तित्व में आए . ग्रामीण जीवन की मध्ययुगीन प्रशांति का काम केवल मंगलकाव्य और लोककाव्य से चल जाता था। इस नए काल में वह खत्म हुआ और स्वभावतः एक नई अभूतपूर्व शहरी संस्कृति और सभ्यता ने उसकी जगह ली।

इस नवविकसित शहरी संस्कृति के संदेशवाहक बंगला पत्र बने जो उसी समय अस्तित्व में आए थे। बंगाल गजट तो कुछ ही दिन चल पाया लेकिन *समाचार दर्पण* का जीवन लंबा रहा। दूसरे पत्र भी जल्द ही प्रकाश में आने लगे। राममोहन की *संवाद कौमुदी* और भवानीचरण बंद्योपाध्याय की *समाचार चंद्रिका* ने तत्कालीन धार्मिक मुद्दों पर बहसें छेड़ दीं। ईश्वरचंद्र गुप्त के *संवाद प्रभाकर* ने अपने समाचारों और संपादक की विभिन्न साहित्यिक कृतियों के जरिए शिक्षित बंगाली मानस पर अपनी छाप छोड़ी। इन पत्रों में समाचार छपते थे, साथ ही ये हिंदू कालेज के नए शैक्षिक सिद्धांतों, डिरोजियो जैसे उदारतावादी मानस के विद्वानों की शिक्षा से उत्पन्न प्रभावों, सतीप्रथा-विरोधी आंदोलन, ब्रह्मसभा और धर्मसभा की गतिविधियों से संबंधित विषयों पर बहस के मंच भी बन गए। यह पत्र-साहित्य तत्कालीन बंगाली जीवन के चरित्रगत आलोड़न का प्रतिबिंब है।

बंगाली समाज के नवजागरणकालीन नेतृत्वकारी व्यक्तित्वों में से एक देवेंद्रनाथ ठाकुर का जन्म (1817) इस युग के प्रारंभ में हुआ। उनके पिता द्वारकानाथ कलकत्ता के धनी अभिजातों में से एक थे इसलिए उनके पुत्र देवेंद्रनाथ के शुरुआती वर्ष शान से बीते। हिंदू कालेज में प्रवेश के पहले उनकी शिक्षा राममोहन के एंग्लो-हिंदू कालेज में हुई। देवेंद्रनाथ जब तेरह वर्ष के थे तब राममोहन इंगलैंड चले गए। राममोहन इंगलैंड से वापस नहीं लौट सके पर देवेंद्रनाथ राममोहन के चरित्र की दृढ़ता, आदर्श के प्रति समर्पण और धार्मिक लगन को हमेशा याद करते थे। वे तब भी आध्यात्मिक अभिलाषा से अनुप्राणित रहे जब उनके पिता द्वारकानाथ अपने व्यवसाय और संपत्ति के कार्यों में डूबे हुए थे। ईश्वर की खोज उन्हें यूरोपीय और भारतीय दर्शनों के गहन अध्ययन की ओर ले गई। अपने दीर्घकालीन चिंतन-मनन से वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हृदय की शुद्धता के साथ सत्य का स्वाभाविक साम्य है। उपनिषदों के अपने अध्ययन के फलस्वरूप देवेंद्रनाथ ने हृदय की शुद्धता के साथ सत्य का अनुभव किया था इसलिए किसी भी शास्त्र को बिना संशोधन के उन्होंने स्वीकार नहीं किया। अपने पुत्र रवींद्रनाथ को उन्होंने अदम्य तार्किकता और स्वतःस्फूर्त अनुभूति के समन्वय की यह महत्वपूर्ण विरासत सौंपी। अपनी आत्मकथा में देवेंद्रनाथ ने इस समन्वय को विवेक द्वारा प्रदीप्त और आत्मनिष्ठा द्वारा पुष्ट सत्य

के धर्म के रूप में चिह्नित किया है। रवींद्रनाथ ने अपने पितामह के जीवन के आदर्शों के प्रति आकर्षण नहीं अनुभव किया। उनके संपूर्ण मानसिक जगत और व्यावहारिक जीवन की गहराइयों में पिता का प्रभाव व्याप्त है। अपने पिता में ही उन्हें जागतिक जीवन का ब्रह्म के समान आदर्श प्राप्त हुआ, सांसारिक अस्तित्व की जिम्मेदारियों को निभाते हुए भी असंपृक्त बने रहना, उदारमना चेतनायुक्त प्रबल बौद्धिक तार्किकता।

द्वारकानाथ इंगलैंड में मृत्यु को प्राप्त हुए (1846)। उनकी फिजूलखर्ची के चलते उन्हें 'प्रिंस' उपनाम मिला। बहरहाल, इसके कारण देवेंद्रनाथ को विरासत में भारी कर्ज मिला। जब पिता की मृत्यु हुई उस समय देवेंद्रनाथ के दो भाई, गिरींद्रनाथ और नागेंद्रनाथ, जीवित थे। देवेंद्रनाथ ने उनका हिस्सा बांटकर उन्हें दे दिया ताकि उन सब पर पिता कि कर्ज की जिम्मेदारी न आए। पिता के कर्ज की सारी जवाबदेही उन्होंने अपने ऊपर ले ली और सारे कर्जदाताओं को उनका पैसा लौटाया हालांकि इसके लिए उन्हें काफी किफायतसारी से काम लेना पड़ा। लेकिन उनकी ईमानदारी को सबने सम्मान की नजर से देखा। उन दिनों कलकत्ता में बहुतेरे धनी अभिजात थे लेकिन अपने संत चरित्र, गहन पवित्रता और प्रबुद्ध आभिजात्य के चलते देवेंद्रनाथ सबसे अलग दिखाई पड़ते थे। उन्होंने राममोहन द्वारा शुरू किए गए धार्मिक सुधारों का कार्यभार पूरा किया और ये वही थे जो ब्रह्मवाद के संस्थापक शिक्षक बने। अपने परिवार में परंपरागत पूजा पद्धति की जगह अपनी धार्मिक अनुभूतियों के अनुरूप धार्मिक आचरण के नए रूपों का उन्होंने प्रवेश कराया। ब्रह्म सिद्धांत के प्रचार में उन्हें एक उत्साही युवक केशवचंद्र सेन की मदद मिली जिन्होंने ब्रह्मसमाज में अनेक तरह के सुधार लागू किए।

रवींद्रनाथ जब पैदा हुए उस समय हमारे देश में कुछ और परिवर्तन हुए जो बेहद महत्वपूर्ण थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह को वैध बनाने के लिए जो आंदोलन चलाया उसे राममोहन के स्त्रीमुक्ति के आदर्शों से प्रेरणा मिली। स्त्रीशिक्षा के जरिए महिलाओं के सामाजिक अधिकारों की स्थापना के लिए किए गए विद्यासागर के अनथक प्रयासों, बहुपत्नीत्व और जातिवाद के विरोधों ने बंगाली समाज को मूल्यों के एक नए अहसास से भर दिया। विद्यासागर के नेतृत्व में विधवा पुनर्विवाह की वैधता और स्त्रीशिक्षा के साथ राममोहन के प्रयासों से सतीप्रथा पर रोक ने हमारे समाज में स्त्रीमुक्ति की राह की बड़ी बाधाओं को दूर कर दिया। इन सबके साथ केशवचंद्र के नेतृत्व में चलने वाला आंदोलन जुड़ गया और इन सबने मिलकर बंगाल के सामाजिक विकास को महत्वपूर्ण गति प्रदान की। एक तरफ विद्यासागर और दूसरी तरफ देवेंद्रनाथ और ठाकुर परिवार के बीच संपर्क-संबंध बने रहे। वे देवेंद्रनाथ द्वारा स्थापित तत्वबोधिनी सभा के सदस्य थे और तत्वबोधिनी पत्रिका के संपादकों में थे। इसी में उनके साथ एक सशक्त गद्य लेखक

अक्षयकुमार दत्त (1820-86) थे जो देवेंद्रनाथ की तत्वबोधिनी पाठशाला में पढ़ाते भी थे।

1857 में कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना के पहले अंग्रेजी शिक्षा के स्कूल थोड़े ही थे। परंपरागत ढंग से चलने वाली पाठशालाएं थीं और संस्कृत शिक्षा के लिए टोल और चतुष्पाठी भी थे। हिंदू कालेज, हुगली कालेज और कृष्णानगर कालेज उच्च शिक्षा के केंद्र थे। इन सबके बावजूद देश की शिक्षाव्यवस्था योजनाबद्ध नहीं थी। शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी हो या राष्ट्रीय भाषाएं, इस पर निरंतर बहस चलती रहती थी। 1844 में हार्डिंग ने बंगला माध्यम वाले स्कूल खोले लेकिन वे सरकारी अनुदान के मुखापेक्षी रहे और जल्द ही बंद हो गए। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने संस्कृत कालेज के प्रधानाचार्य रहने के दौरान राज्य में विभिन्न जगहों पर बंगला माध्यम के स्कूलों की स्थापना की पहल की। उन्हें कुछ दिनों के लिए सरकारी संरक्षण भी मिला। इन स्कूलों के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण हेतु ईश्वरचंद्र ने नार्मल स्कूल की स्थापना की और अक्षयकुमार दत्त उसके प्रधानाध्यापक हुए। इसी नार्मल स्कूल में देवेंद्रनाथ ने अपने बेटे रवींद्रनाथ को भेजा जिन्होंने विभिन्न संदर्भों में इस स्कूल में प्राप्त बंगला प्रशिक्षण के लिए कृतज्ञता ज्ञापित की है। रवींद्रनाथ के शिक्षा संबंधी आदर्श नार्मल स्कूल से निर्मित हुए हैं जो एक अर्थ में तत्वबोधिनी पाठशाला का वारिस था।

देवेंद्रनाथ जनकल्याण के कई कार्यों से जुड़े हुए थे। उनके अपने शैक्षिक आदर्श थे, वे निरंतर सामाजिक और धार्मिक सुधारों में भी लगे रहते थे। वे अक्सर हिमालय की ओर निकल जाते थे ताकि एकांत में एकाग्र ध्यान लगा सकें और पारिवारिक जीवन के विघ्नकारी शोरगुल से दूर रहकर आध्यात्मिक चिंतन कर सकें। 1856 से घर से बाहर की ये यात्राएं शुरू हुईं। इसी तरह के एक निष्क्रमण के दरम्यान बोलपुर से रायपुर जाते हुए विश्राम के लिए वे भुवनडांगा के निर्जन हरित भूखंड पर रुके। वह पूरा इलाका रायपुर इस्टेट का अंग था। उसमें से 1863 में देवेंद्रनाथ ने जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा खरीदा और शांतिनिकेतन आश्रम की स्थापना की। 1888 में आश्रम के प्रबंधन के लिए उन्होंने एक ट्रस्ट बना दिया और ब्रह्म की उपासना के उद्देश्य से उसे दान दे दिया।

देश में ऐतिहासिक महत्व की अनेक घटनाएं घट रही थीं। उसी समय ठाकुर परिवार के भीतर भी देवेंद्रनाथ के धार्मिक आचारों के साथ-साथ राष्ट्रवाद का वातावरण फैल गया था और वहां का माहौल संगीत, कला और साहित्य संबंधी गतिविधियों की परंपरा के निर्माण के लिए अत्यंत उपयुक्त था। रवींद्रनाथ के जन्म के चार वर्ष पहले सिपाही गदर हो चुका था और ब्रिटिश ताज ने इसके उत्तर में ईस्ट इंडिया कंपनी से भारत का प्रशासन छीन लिया था। निलहा विद्रोह इसके तुरंत बाद घटित हुआ जिसमें सिपाही विद्रोह की राष्ट्रवादी विशेषताएं दिखाई पड़ीं, हालांकि, ठीक-ठीक कहा जाए तो यह अंग्रेजों के खिलाफ

लक्षित नहीं था। ब्रिटिश ताज के प्रशासन संभालते ही आशा का वातावरण पैदा हुआ जिससे क्रमशः शक्तिशाली राष्ट्रवादी भावनाएं उत्पन्न हुईं। बहुत बाद में लिखी निम्नलिखित पंक्तियों में रवींद्रनाथ ने तत्कालीन परिस्थितियों का स्मरण किया है :

> उन दिनों हालांकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के छिटपुट प्रयास हो रहे थे लेकिन अपने दिल में हमने अंग्रेज प्रजाति की उदारता में विश्वास नहीं खोया था। यह विश्वास हमारे नेताओं के भाव जगत में इतने गहरे समाया था कि उन्हें आशा थी कि विजयी स्वयं अपनी सज्जनतावश पराजित की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर देगा। यह विश्वास इस तथ्य पर आधारित था कि उन दिनों जो कोई भी उत्पीड़न से बचने के लिए अपने देश से भागता था, इंगलैंड उसे शरण प्रदान करता था। जो राजनीतिक शहीद जनता के सम्मान का पात्र होने के कारण सताए जाते थे उनका अंग्रेज बेहिचक दिल खोलकर स्वागत करते थे। अंग्रेज आचरण के इस उदार मानवतावादी उदाहरण से मैं प्रभावित था और इसीलिए मैं उनका सर्वाधिक सम्मान करता था। उनके राष्ट्रीय चरित्र की यह उदारता तब तक साम्राज्यवादी दर्प द्वारा दूषित नहीं हुई थी (*क्राइसिस इन सिविलाइजेशन*)।

बचपन और युवावस्था

रवींद्रनाथ का जन्म 7 मई 1861 को जोड़ासांको के पैतृक मकान में हुआ। उनकी मां शारदा देवी के बारे में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। अपने माता-पिता की वे चौदहवीं संतान थे। उनसे छोटे एकमात्र भाई बुधेंद्रनाथ बचपन में ही गुजर गए। सबसे बड़े भाई द्विजेंद्रनाथ कवि और दार्शनिक थे। उनके बाद क्रमशः अन्य भाई-बहन थे : सत्येंद्रनाथ, हेमेंद्रनाथ, बीरेंद्रनाथ, सौदामिनी, ज्योतिरींद्रनाथ, सुकुमारी, शरतकुमारी, स्वर्णकुमारी, वर्णकुमारी और सोमेंद्रनाथ। सबसे बड़ी बहन और भाई पुष्येंद्रनाथ भी छुटपन में ही गुजर गए।

द्विजेंद्रनाथ, सत्येंद्रनाथ, ज्योतिरींद्रनाथ और स्वर्णकुमारी अपनी उपलब्धियों और गुणों के कारण सबसे उल्लेखनीय हैं। सत्येंद्रनाथ इंगलैंड गए और भारतीय सिविल सर्विस (आई.सी.एस.) के पहले भारतीय सदस्य के बतौर लौटे, ज्योतिरींद्रनाथ संगीत विशारद और नाटककार थे, और स्वर्णकुमारी उस समय की प्रतिष्ठित उपन्यास लेखिका थीं। कहना न होगा कि ठाकुर परिवार का वातावरण संगीत, साहित्य और नाटक संबंधी गतिविधियों के परिष्कार से गूंज रहा था। इन सब बातों के अतिरिक्त परिवार के दायरे

के बाहर वे राष्ट्रीय स्तर की विभिन्न गतिविधियों से भी जुड़े हुए थे।

लंबे-चौड़े परिवारों में बच्चे नौकरों की देखरेख में किफायतसारी में पाले जाते हैं। अपने संस्मरण *जीवन-स्मृति* में रवींद्रनाथ ने बचपन के दिनों का आकर्षक वर्णन किया है। चारों तरफ बगीचे से घिरा एक महलनुमा घर जिसमें एक तालाब था और बगीचे में ऐसी जगहें भी थीं जिनसे बच्चे परिचित नहीं थे। घर के अपरिचित और अनजाने कोने-अंतरे गहरे रहस्य से घिरे हुए थे। बालक रवींद्रनाथ नौकरों की कड़ी निगाह से बच नहीं पाते और मनमाना घूम फिर नहीं पाते। इसलिए उनके भोले दिमाग की सारी कल्पनाएं इस विस्तृत जगत से संबंधित थीं। दूरागत के प्रति उनकी गहन उत्कंठा उनके जीवन में बाद में संतुष्ट हुई जब उन्होंने अनेक विदेश यात्राएं कीं। यह संतुष्टि उन्हें अपनी अनेक कविताओं और गीतों में भी मिली।

बच्चों की शिक्षा की देखभाल हेमेंद्रनाथ करते थे। पहले रवींद्रनाथ का दाखिला कलकत्ता ट्रेनिंग अकादमी में हुआ और फिर कुछ वर्ष वे नार्मल स्कूल के छात्र रहे जहां उनकी बंगला शिक्षा की पुख्ता बुनियाद तैयार हुई। नार्मल स्कूल के ही दिनों में 1873 में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और कुछ ही दिनों बाद अपने पिता देवेंद्रनाथ के साथ वे हिमालय यात्रा पर गए। रास्ते में उन्होंने कुछ दिन शांतिनिकेतन में पिता द्वारा स्थापित आश्रम में बिताए। तब उनकी उम्र बारह वर्ष थी। यह पहला मौका था जब वे शहर से बाहर निकले थे और उन्होंने अपने आपको प्रशांत प्राकृतिक विस्तार के मध्य पाया। पिता की सजीव निकटता उन्हें पहले कभी प्राप्त नहीं हुई थी। पिता के स्नेहिल साथ ने इस यात्रा को विशेषकर अर्थवान बना दिया। इस यात्रा में एक असाधारण व्यक्तित्व के आदर्श ने रवींद्रनाथ के दिमाग पर अपनी छाप छोड़ दी। हिमालय प्रवास के एकांत में रवींद्रनाथ को पिता ने संस्कृत पढ़ाई। शाम के आसमान में विभिन्न ग्रह और तारे पिता ने पुत्र को दिखाए। उन्होंने पुत्र को छोटी-मोटी जिम्मेदारियां प्रदान कर एकदम अलग तरह से प्रशिक्षित किया। सबसे आगे बढ़कर, रवींद्रनाथ पिता के प्रकृति प्रेम और सौंदर्य बोध से बेहद प्रभावित हुए।

हिमालय से लौटते ही उनका बचपन समाप्त हो गया और बालपन की अंतिम अवस्था को पार कर युवावस्था में उन्होंने प्रवेश किया। इसके बाद से उनका शैक्षिक और साहित्यिक अभ्यास और अबाध गति से चलने लगा। ज्ञानचंद्र भट्टाचार्य, रामसर्वस्व भट्टाचार्य, ब्रजनाथ डे एक के बाद एक उन्हें पढ़ाने घर आते रहे और संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य में वे क्रमशः दक्ष हो चले। उन्होंने स्कूल जाना बंद कर दिया लेकिन उनका साहित्यिक अध्ययन तेजी से आगे बढ़ता रहा। उनकी पहली प्रकाशित कविता 'अभिलाष' थी जो *तत्वबोधिनी* पत्रिका में अग्रहायण 1281 बंगाब्द में छपी (कुछ लोग मानते हैं कि रवींद्रनाथ की पहली

प्रकाशित कविता 'भारतभूमि' थी जो *बंगदर्शन* में 1874 में छपी)। दूसरी प्रकाशित कविता थी 'प्रकृतिर खेद'। ये दो कविताएं उन्होंने विद्वज्जन सभा की एक बैठक में पढ़ी थीं। तत्कालीन पत्रिकाओं में इस सभा के प्रति शुभाशंसायुक्त टिप्पणियां हैं। उस समय रवींद्रनाथ की आयु मात्र चौदह वर्ष थी। 1873 में जब वे हिमालय से लौटे तब से लेकर 1878 तक, जब वे इंगलैंड गए, के बीच का उनका साहित्यिक सृजन *कविकाहिनी* (1878), *बनफूल* (1880) और *शैशव संगीत* (1884) नामक संग्रहों में है। उन्होंने एक साहित्यिक पत्रिका *ज्ञानांकुर* में जगह बनाई हालांकि उस समय वे बच्चे ही थे और इसमें विद्वान बुजुर्गों का लेखन प्रकाशित होता था। हिंदूमेला के अवसर पर पढ़ी गई उनकी कविता 'हिंदूमेलाय उपहार' ने उन्हें यह सम्मान दिलाया। 'अभिलाष' और 'प्रकृति खेद' पहले प्रकाशित हो चुकी थीं लेकिन उनके साथ लेखक का नाम नहीं था। ऐसा लगता है कि कवि के रूप में उनकी ख्याति हिंदूमेला वाली इसी कविता से शुरू हुई। बहरहाल, यह कविता उस समय के नेतृत्वकारी कवि हेमचंद्र बंद्योपाध्याय की शैली का अनुकरण करके लिखी गई थी। वस्तुतः बंगला साहित्य का यह काल मधुसूदन और हेमचंद्र का काल था। बिहारीलाल ने भी अपने गीत लिखने शुरू कर दिए थे लेकिन तब तक वे कवि के रूप में इतने मशहूर न हुए थे कि उनकी नकल की जाए। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय गद्य लेखक के बतौर जाने जाते थे और बकौल रवींद्रनाथ उनके *बंगदर्शन* ने बंगालियों का दिल जीत लिया था। इस समय किसी और कवि के मुकाबले बिहारीलाल की कविता में प्रमुखतापूर्वक निजी छाप की कोमल भावनाओं और सूक्ष्म कल्पनाओं का प्रत्यक्ष हुआ था, रवींद्रनाथ के काव्य की भी यही विशेषताएं थीं। मुख्यतः मातृभूमि के हृदयद्रावक वर्णन के चलते हेमचंद्र ने लोगों का ध्यान खींचा और बालक रवींद्रनाथ ने 'हिंदूमेलाय उपहार' लिखते हुए हेमचंद्र के भारतसंगीत का अनुकरण किया। इस कविता को उन्होंने पारसीबागान में लगने वाले हिंदूमेला के एक सत्र में पढ़ा।

हमें हिंदूमेला के बारे में कुछ जान लेना चाहिए। देवेंद्रनाथ के परिवार में स्वतःस्फूर्त या विकसित राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रतिफल था हिंदूमेला की स्थापना। 1861 में देवेंद्रनाथ के एक मित्र राजनारायण बोस ने मिदनापुर में जातीय गौरवेच्छा संचारिणी सभा नामक संगठन की स्थापना की। राष्ट्रवादी प्रश्नों पर बहस और उनका प्रचार ही इसका उद्देश्य था। कुछ सालों के बाद उन्होंने एक पुस्तिका छापी जिसका शीर्षक था, 'बंगाल के शिक्षित नागरिकों में राष्ट्रीय भावनाओं के उन्नयन हेतु सभा की कार्यसूची'। इस पुस्तिका में व्यक्त विचारों ने नवगोपाल मित्र को हिंदूमेला के आयोजन के लिए प्रेरित किया जिसमें उन्हें गिरींद्रनाथ के बेटे गणेंद्रनाथ का सहयोग मिला। मेला का पहला सत्र 1867 में पारसीबागान में शुरू हुआ। इसने अपना उद्देश्य चुना, अपने देशवासियों की कला, साहित्य और संगीत

का प्रचार। देसी पद्धति के अनुसार शारीरिक कसरतों को भी प्रोत्साहित करने को सोचा गया। हिंदूमेला ने हमारे देश में राष्ट्रवादी चेतना के जागरण और शुरुआती विकास के दौर में अविस्मरणीय भूमिका निभाई। एक और तत्कालीन कवि मनमोहन बोस ने बंधनयुक्त भारत की वेदना का चित्रण करते हुए एक गीत इस मेला में प्रस्तुत किया। हिंदूमेला के विभिन्न सत्रों में अनेकानेक गीत प्रस्तुत किए गए, उदाहरणार्थ : सत्येंद्रनाथ का 'मिले सबे भारत संतान', 'एकतान', 'मनप्रान', द्विजेंद्रनाथ का 'मलिन मुख चंद्रमा भारत तोमारि' और गगेंद्रनाथ का 'लज्जाय भारत जस गहिबा कि करे'। 11 फरवरी 1875 को युवतम कवि रवींद्रनाथ ने अपनी कविता का पाठ किया। इसमें उन्होंने कल्पना की कि हिमालय के शिखर पर व्यास अपनी वीणा बजा रहे हैं और इस समय के भारत का दुःख गा रहे हैं। रामचंद्र, युधिष्ठिर, पृथ्वीराज जैसे राजाओं और दुर्गाबाई जैसी बहादुर रानियों की याद करते हुए और देश को आज बंधन में देखकर कवि कहता है :

भारत कंकाल आर कि एखन,
पाइबे हाय रे नतून जीवन;
भारतेर भस्मे आगुन ज्वालिया,
आर कि कखन दिबेरे ज्योति।
ताजदि ना हय तबे आर केनो,
हासिबी भारत! हासिबीरे पुनः,
से दिनेर कथा जागि स्मृति पटे,
भासे ना नयन विषाद जले?

(कंकाल मात्र भारत क्या नया जीवन पाएगा? भस्मीभूत भारत क्या पुनः ज्वलंत और ज्योतित होगा? अगर यह नहीं हुआ तो तुम पुनः क्योंकर हंसोगे? उन दिनों की कथा स्मृति पट पर जागते ही क्या आंखों से आंसू न प्रवाहित होंगे?)

हिंदूमेला ने देशभक्ति के माहौल को इसी तरह गरमाया था। बंकिमचंद्र के उपन्यास, ज्योतिरींद्रनाथ तथा औरों के नाटक, हेमचंद्र की कविताएं, सभी यही धुन बजा रहे थे। लेकिन समाज का अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त तबका एक साथ शासक सत्ता के प्रति वफादारी और मजबूत देशभक्तिपरक व्यक्तिवाद की दो विरोधी प्रवृत्तियां प्रदर्शित कर रहा था। शुरू से ही ठाकुर इनमें से चिंतन की दूसरी प्रवृत्ति में दाखिल हो गए और रवींद्रनाथ के जीवन के परवर्ती काल में इस दृष्टिकोण का संपूर्ण विकास हम देखते हैं। इसी देशभक्ति की एक और अभिव्यक्ति *संजीवनी सभा* के उदाहरण में दिखाई पड़ती है। यह एक भूमिगत संस्था थी जिसके संपर्क तब भी राजनारायण बोस जैसे बुजुर्ग व्यक्तियों के साथ

बने हुए थे। रवींद्रनाथ ने अपने संस्मरणों में इस संस्था की गतिविधियों का मनोरंजक चित्र प्रस्तुत किया है। लेकिन रवींद्रनाथ के युवा हृदय में देशभक्ति जाग्रत करने में इस संस्था ने कोई छोटी भूमिका नहीं निभाई।

हालांकि उनके साहित्यिक प्रयास तेजी से आगे बढ़ रहे थे लेकिन उनकी औपचारिक शिक्षा की प्रगति मंद थी। कुछ दिनों के लिए वे सेंट जेवियर्स स्कूल गए लेकिन अनियमित उपस्थिति के चलते वह भी बंद हो गया। वे घर में असंबद्ध अध्ययन में अपने दिन बिता रहे थे, तभी उनके बड़े भाई सत्येंद्रनाथ ने उनके सामने इंगलैंड जाने और वहां वकालत की पढ़ाई करने का प्रस्ताव रखा। इंगलैंड जाने से पहले थोड़े समय के लिए रवींद्रनाथ सत्येंद्रनाथ के साथ अहमदाबाद रहे जहां वे सेशन जज थे। सत्येंद्रनाथ के विशाल पुस्तकालय ने रवींद्रनाथ को यह अवसर दिया कि वे जो चाहें, पढ़ें। अपनी कहानी 'क्षुधित पाषाण' में रवींद्रनाथ ने बीस वर्ष पहले की शाहीबाग महल की स्मृतियों को पुनर्जीवित किया। अहमदाबाद प्रवास के दिनों में उनका कुछ लेखन *भारती* नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

1878 में अपने बड़े भाई सत्येंद्रनाथ के साथ रवींद्रनाथ ने इंगलैंड के लिए प्रस्थान किया। इंगलैंड में रवींद्रनाथ का दाखिला पहले एक पब्लिक स्कूल फिर यूनिवर्सिटी कालेज, लंदन में हुआ। वहां भी वे पाठ्यक्रम पूरा न कर सके और डेढ़ वर्ष बाद भारत लौट आए। भारती में प्रकाशित यूरोप प्रवासीर पत्र इस बात का गवाह है कि अठारह महीने के संक्षिप्त समय में भी रवींद्रनाथ अपने ग्रहणशील मस्तिष्क के चलते इंगलैंड के जीवन और समाज से निकट परिचय स्थापित करने में सक्षम हुए। थोड़े दिनों के लिए वे किन्हीं डा. स्काट के परिवार के साथ रुके जिससे उन्हें मनुष्य की उदार चेतना का अनुभव हुआ। रवींद्रनाथ में उदारवादी सामाजिक दृष्टिकोण के विकास में इस अनुभव से मदद मिली। *जीवनस्मृति* के निम्नलिखित उद्धरण में वे इस बात को स्वीकार करते हैं :

> इस परिवार में रहते हुए एक बात मुझे महसूस हुई कि सर्वत्र मानव स्वभाव एक समान है। हम अक्सर कहते हैं और मुझे विश्वास भी था कि अपने पति के प्रति भारतीय पत्नी का समर्पण अनोखा होता है और यह भी कि यूरोप में ऐसा नहीं पाया जाता। लेकिन कम से कम मैं श्रीमती स्काट और एक आदर्श भारतीय पत्नी में कोई भेद देखने में असमर्थ हूं (*रेमिनिसेंसेज*)।

वे बिना किसी डिग्री या व्यावसायिक योग्यता के लौटे थे लेकिन इंगलैंड के अनुभवों के आधार पर उनकी प्रतिभा एक दूसरे मार्ग से भी प्रकट होने लगी। पश्चिमी संगीत के प्रति उनमें गहरी रुचि का विकास हुआ और इस विषय में उन्होंने कुछ गंभीर पढ़ाई भी

की। घर लौटने पर उन्होंने एक संगीत-नाटक लिखा, *वाल्मीकि प्रतिभा* (1881)। उनके पारिवारिक मित्र बिहारीलाल के काव्य ग्रंथ *शरद्मंगल* से उन्हें अपने नृत्यनाटक की कहानी की कुंजी मिली। लेकिन इसके गीत उन्होंने स्वयं रचे थे जिनकी धुन भारतीय और पश्चिमी संगीत पद्धतियों के एक नए संश्लेषण पर आधारित थी। इन्होंने बंगाल की संगीत परंपरा में नवीन योगदान किया। वाल्मीकि प्रतिभा का मंचन विद्वज्जन सभा के सामने किया गया और रवींद्रनाथ ने इसमें वाल्मीकि की भूमिका निभाई। इससे पहले ज्योतिरींद्रनाथ के नाटक 'एमन कर्म आर करबा ना' में रवींद्रनाथ ने आलीक बाबू की भूमिका निभाई थी। ठाकुर के लिए वाल्मीकि प्रतिभा अपने आपको पूरी तरह संगीत और साहित्य के लिए अर्पित कर देने का इंगित था। उसी समय 'सांध्य संगीत' (1882) लिखा गया।

इसके बाद 1883 में 'प्रभात संगीत' सामने आया। 'प्रभात संगीत' की रचना का अवसर इतना विशिष्ट था कि रवींद्रनाथ ने इसका स्मरण न सिर्फ अपनी 'जीवनस्मृति' में किया है बल्कि जीवन के परवर्ती दिनों के 'दि रिलिजन आफ मैन' (1930) और 'मानुषेर धर्म' (1933) में भी इसका स्मरण किया है। तब वे सदर स्ट्रीट में ज्योतिरींद्रनाथ के साथ रहते थे। ठीक सूर्योदय के समय एक सुबह उन्हें रहस्यमय दिव्य दर्शन की कौंध सी दिखाई पड़ी जिसमें विश्व, प्रकृति और मनुष्य आनंद की धारा में नहाते से दीख पड़े। यह धारा समूचे विश्व को आप्लावित किए हुए थी। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता 'निर्झरेर स्वप्नभंग' लिखी। अपने आंतरिक जगत से छुटकारा पाकर कवि ने बाहरी मानव जगत में प्रवेश किया। इसी चरण के बाद उन्होंने अपने आंतरिक जगत के बारे में नई अंतर्दृष्टि पाई और रवींद्रनाथ की कवि प्रतिभा ने सच्ची मुक्ति प्राप्त की। इसके बाद एक के बाद एक उन्होंने 'छवि ओ गान' (1884), 'प्रकृतिर प्रतिशोध' (1884), 'कड़ी ओ कोमल' (1886), 'मायार खेला' (1888), 'मानसी' (1890) की रचना की। इसी के साथ-साथ गद्य में लेखों, आलोचनाओं और उपन्यासों का भी गंभीर लेखन चलता रहा। रवींद्रनाथ की अपनी नजर में कविता में उनकी निजी छाप मानसी के बाद प्रकट होनी शुरू हुई। अपनी शुरुआती रचनाओं के प्रति आत्मसंशय से वे कभी पूरी तरह मुक्त न हो सके।

पचास के पहले

तेईस वर्ष की उम्र में रवींद्रनाथ ने मृणालिनी देवी से विवाह किया। इस समय अपने काव्य प्रयासों के अतिरिक्त उन्होंने अपने पिता की विराट जिम्मेदारियों में हाथ बंटाना भी शुरू कर दिया था। वे महर्षि के आदि ब्रह्मसमाज के सचिव थे और अपना काम

उत्साहपूर्वक किया करते थे। ब्रह्मसमाज में अनेक टकराव और अनिश्चय थे। केशवचंद्र के साथ देवेंद्रनाथ के मतभेद अब बीते दिनों की बात हो चुके थे लेकिन केशवचंद्र का अपना गुट भी निष्क्रिय और निष्प्रभावी हो चुका था। शिवनाथ शास्त्री जैसे युवा ब्रह्मसमाजी केशवचंद्र के प्रशंसक थे, उन्होंने साधारण ब्रह्मसमाज की स्थापना की। बहरहाल, इसको देखे बिना कि वे केशवचंद्र के अनुयायी हैं या शिवनाथ शास्त्री के, देवेंद्रनाथ का आदर सब करते थे। हिंदू समाज में भी जीवन और क्रिया के कुछ चिह्न दिखाई पड़ रहे थे। दक्षिणेश्वर के संत रामकृष्ण परमहंस और उनके विश्वविख्यात शिष्य विवेकानंद ने पारंपरिक हिंदू धर्म में नया विश्वास जाग्रत किया। अपने जीवन के एक खास दौर में विवेकानंद ब्रह्मसमाज आंदोलन की ओर आकर्षित हुए थे और इसमें उनकी रुचि पूरी तरह कभी खत्म नहीं हुई।

रवींद्रनाथ ने उन्नीसवीं सदी के नवें दशक में अपने आपको पूरी तरह ब्रह्मसमाज की जिम्मेदारियों के प्रति समर्पित कर दिया। यह समय धार्मिक आंदोलनों का था। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय तार्किक आधारों पर हिंदूवाद को व्याख्यायित करने का प्रयास कर रहे थे। वे बंगाल के प्रमुख उपन्यासकार और साथ ही प्रसिद्ध बौद्धिक नेता भी थे। वे रवींद्रनाथ के सबसे बड़े भाई द्विजेंद्रनाथ के मित्र और समकालीन भी थे। हालांकि धार्मिक मामलों में बंकिमचंद्र और द्विजेंद्रनाथ के बीच मौलिक मतभेद थे। फिर भी आदि ब्रह्मसमाज के आदर्शों को वे श्रद्धा की निगाह से देखते थे। दरअसल बंकिमचंद्र और रवींद्रनाथ के बीच धर्म के नैतिक आदर्शों को लेकर बहस हुई थी। बहरहाल, इसके चलते हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बंकिमचंद्र रवींद्रनाथ की पारगामी प्रतिभा से गहरे प्रभावित थे, उन्होंने 'वाल्मीकि प्रतिभा' में उनकी भूमिका की तारीफ की थी और 'सांध्य संगीत' के मुखर प्रशंसक थे। वे रवींद्रनाथ की प्रतिभा की अभिव्यक्ति में प्रगति का ध्यानपूर्वक निरीक्षण कर रहे थे। बंकिमचंद्र द्वारा प्रचारित ऐतिहासिक उपन्यास के विचार ने रवींद्रनाथ के *'बहू ठकुरानीर हाथ'* (1883) और *'राजर्षि'* (1887) के लिए आदर्श सांचा प्रस्तुत किया। 1894 में बंकिमचंद्र की मृत्यु के अवसर पर लिखे लेख में रवींद्रनाथ ने बंकिमचंद्र को अतिशय आदर भरी श्रद्धांजलि अर्पित की।

इसी समय रवींद्रनाथ के जीवन का एक और अध्याय शुरू हो गया। सितंबर 1880 में सत्येंद्रनाथ के साथ उन्होंने इंगलैंड की दूसरी यात्रा की। वे केवल एक महीना वहां रहे और अक्तूबर में पिता के निर्देश पर पारिवारिक संपत्ति संभालने के लिए लौट आए। हालांकि द्विजेंद्रनाथ सबसे बड़े भाई थे लेकिन ऐसा लगता है कि पिता रवींद्रनाथ पर अधिक विश्वास करते थे। बहरहाल, इस विचित्र जिम्मेदारी ने उनके साहित्यिक कार्यों के लिए नया क्षितिज खोल दिया। अब तक का उनका साहित्यिक कार्य विशुद्ध चिंतन और कल्पना

पर आधारित था। अब उन्हें सामान्य जनजीवन के साथ निकटता से जीने-रहने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्हें गरीबों के जीवन का प्रत्यक्ष और निकट का अनुभव हुआ और उनकी सामाजिक समस्याओं, उनके रीति-रिवाजों, पूजा-उत्सव और उनके सामान्य सामाजिक आचरण का प्रामाणिक ज्ञान हासिल हुआ। वे कविता की काल्पनिक दुनिया से वास्तविक जीवन की निकटता की भूमि पर उतरे और फलस्वरूप कहानियों के संग्रह '*गल्पगुच्छ*' की रचना हुई जो बंगला साहित्य को उनका अद्‌भुत योगदान है। '*छिन्नपत्र*' और '*छिन्न पत्रावली*' में संग्रहित अपनी भतीजी इंदिरा देवी को लिखे उनके पत्रों में उत्तरी बंगाल की प्रकृति का साहित्यिक प्रस्तुतीकरण हुआ है। नदी की धारा में एक नाव पर बैठे-बैठे उन्होंने पटिसार से कालीग्राम और फिर कालीग्राम से उत्तरी बंगाल में सियालदह तक की यात्रा की। इसके चलते सियालदह में कविता के लिए एक अत्यंत पवित्र जगह बनी।

कुछ लोगों ने इस काल को 'साधना' के काल के बतौर चिह्नित किया है। द्विजेंद्रनाथ के पुत्र सुधींद्रनाथ द्वारा संपादित पत्रिका 'साधना' के प्रमुख सहयोगकर्ता रवींद्रनाथ थे। 'साधना' में प्रकाशित उनकी कहानियों, लेखों और कविताओं में रवींद्रनाथ की प्रतिभा के सभी रंग जगमगाए हैं। 'साधना' में शिक्षा संबंधी उनके प्रौढ़ विचार सामने आए और इसी में उन्होंने राजनीतिक बहसें चालू कीं। शिक्षा और राजनीति संबंधी ये विचार मजबूती से और स्पष्टतः व्यक्त किए गए। 1892 में अपने एक लेख 'शिक्षार हेरफेर' में उन्होंने शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा बंगला को अपनाने की वकालत की। इस विचार से वे कभी डिगे नहीं। हालांकि अनेक लोगों ने उनके राजनीतिक विचारों में रुचि नहीं ली लेकिन उनकी उपेक्षा न की जा सकी। तब राजनीतिक बहसें मुट्ठी भर अंग्रेजी शिक्षा की पृष्ठभूमि युक्त कलकत्ता निवासी शहरी अल्पसंख्या में ही सीमित थीं। उस समय रवींद्रनाथ ने प्रस्ताव पेश किया कि प्रादेशिक कांग्रेसें विभिन्न देहाती इलाकों में की जाएं और इसकी कार्यवाही मातृभाषा में चले ताकि सामान्य जन के साथ इसके स्वतःस्फूर्त संपर्क की गारंटी हो। अपने संपूर्ण जीवन में रवींद्रनाथ ने रचनात्मक कार्यों पर जोर दिया और मुख्यतः जो वे कहना चाहते थे, वह यह कि लोगों को अपने देश और अपनी जनता को गहराई से जानना चाहिए, उदार मानवतावाद से उत्पन्न नैतिक बोध के आधार पर अपनी गलतियों को दुरुस्त कर लेना चाहिए, जहां एक तरफ विदेशी शासकों की दया पर निर्भर नहीं रहना चाहिए वहीं दूसरी तरफ आंतरिक शक्ति से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। यह वह समय था जब एक तरफ वे बंगाली जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गहराई से विचार कर रहे थे और नेतृत्व प्रदान कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ प्राचीन भारतीय परंपरा का सत्य, इसके सारतः आध्यात्मिक चरित्र और एकता की इसकी निरंतर खोज से पाठकों को परिचित कराने के लिए लेख लिख रहे थे।

हालांकि एकदम सटीक अर्थों में जिसे राजनीति कहा जाता है, उससे कभी बहुत गहरे वे नहीं जुड़े लेकिन रवींद्रनाथ उदात्त देशभक्त थे। हिंदूमेला के दिनों से ही स्वतःस्फूर्त राष्ट्रवादी कार्यवाहियों में भाग लेना पूरे परिवार की विशिष्टता बन गई थी। रवींद्रनाथ इससे कभी एकदम अलग नहीं हुए। 1896 में कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस सत्र का उद्‌घाटन उन्होंने 'बंदे मातरम्' गीत गाकर किया। तब तक कांग्रेस ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया था। यह विद्रोही भावना घटनाओं के एक भिन्न क्रमविकास से आगे बढ़ी। बालगंगाधर तिलक महाराष्ट्र में उभर चुके थे और शिवाजी उत्सव को सामाजिक उत्सव के रूप में शुरू कर चुके थे। सखाराम गणेश देउस्कर ने इससे प्रेरणा लेकर बंगाल में देशभक्ति की आग भड़का दी। रवींद्रनाथ ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'शिवाजी उत्सव' लिखी। रवींद्रनाथ उन लोगों में से एक थे जिन्होंने जब ब्रिटिश जज की अध्यक्षता में अदालत ने तिलक को कारावास का दंड दिया तो तिलक के लिए बंगाल से सहायता भेजी। बंगाब्द 1305 में ढाका में आयोजित प्रादेशिक कांग्रेस में वे मौजूद थे और उन्होंने वहां राष्ट्रगान गाया। इस दौर में माहौल लगातार शासक सत्ता के साथ टकराव की भावना से गरमाता जा रहा था। उन्होंने 'साधना', 'बंगदर्शन' और 'भारती' के कालमों में राजनीतिक परिस्थिति का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण किया।

इस देशभक्तिपूर्ण उभार का परिणाम था देश का विभाजन (1905)। आधुनिक युग की शुरुआत ब्रिटिश शासकों पर विश्वास के साथ हुई थी। उन्नीसवीं सदी में राजनारायण बोस के हिंदूमेला और बंकिमचंद्र तथा दूसरों के देशभक्ति के प्रति समर्पण के बावजूद लंबे दिनों तक यह विश्वास अडिग बना रहा। संयोगवश शासकों में इस विश्वास को हिलाने में कई कारकों ने मदद की। उस समय रवींद्रनाथ आत्मनिर्भरता अथवा अपनी शक्ति पर भरोसा करने पर जोर दे रहे थे। 16 अक्तूबर 1905 को बंगाल को विभाजित कर बंगालियों को कमजोर करने का अंग्रेजों का मकसद एकदम स्पष्ट था। पूरे बंगाल से विरोध के स्वर उठे। अपनी पत्रिका 'बंगदर्शन' में रवींद्रनाथ ने लिखा, 'इस बात को याद रखने और घोषित करने के लिए कि ईश्वर ने बंगालियों को विभाजित नहीं पैदा किया है हमें एक दिन तय करना चाहिए जिस दिन हम एक दूसरे की कलाई पर पीला धागा बांधें। यह दिन एक दूसरे के साथ बंधन में बंधने का प्रतीक होगा।' इस दिन के कीर्तिगान के लिए रवींद्रनाथ ने कई और लोगों के साथ मिलकर 'बाङ्‌लार माटी बाङ्‌लार जल' नामक गीत रचा। इस अवसर पर आयोजित अनेक सभाओं और जुलूसों में उन्होंने भाग लिया। हमारे इतिहास में इसे *स्वदेशी आंदोलन* के बतौर जाना जाता है। क्योंकि इसी अवसर पर विदेशी को अस्वीकार करने और देशी को स्वीकार करने की मांग का राष्ट्रीय चेतना ने उत्तर दिया था। नेशनल कौंसिल आफ एजुकेशन की स्थापना हुई जिसका

उद्देश्य था शिक्षा की ब्रिटिश व्यवस्था को हटाकर उसकी जगह राष्ट्रीय शिक्षा नीति को ले आना। इस प्रयास से भी रवींद्रनाथ जुड़े थे। नेशनल कौंसिल आफ एजुकेशन से जादवपुर विश्वविद्यालय पैदा हुआ।

अपने प्रसिद्ध लेख 'स्वदेशी समाज' में रवींद्रनाथ ने लोगों में आत्मनिर्भरता की भावना स्थापित करने का विस्तृत कार्यक्रम पेश किया। उसी लेख के क्रम में उन्होंने गांवों के संगठन की योजना सामने रखी और इस योजना के विभिन्न पहलुओं, जैसे सामान्य लोगों की शिक्षा, सामाजिक स्व-प्रशासन, सहकारी आंदोलन आदि को व्याख्यायित किया। उन्होंने प्रशासन के समानांतर सामाजिक प्रशासन को विकसित करने का पक्ष लिया। अपने परवर्ती जीवन में रवींद्रनाथ ने इनमें से कुछ विचारों को शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन की गतिविधियों में ठोस रूप दिया। इन रचनात्मक विचारों ने कुछ को प्रेरित किया तो कुछ लोगों ने इनकी आलोचना भी की। जो लोग राजनीतिक गतिविधियों में गहराई से व्यस्त थे उन्होंने सामाजिक सुधारों की इस योजना को अवास्ताविक माना। बंग-भंग का प्रतिरोध हुआ लेकिन इसके घटित होने से पहले ही रवींद्रनाथ कलकत्ता की भीड़भाड़ से निकलकर शांतिनिकेतन के एकांत में रम चुके थे जहां अपने विचारों के मुताबिक उन्होंने काम करना शुरू कर दिया।

ग्रामीण पुनर्निर्माण की उनकी गतिविधियां सियालदह में पहले से ही चल रही थीं। पहले जब अपनी संपत्ति की जिम्मेदारियों के सिलसिले में वे उत्तरी बंगाल गए थे तो कुछ दिनों के लिए सियालदह में पत्नी और बच्चों के साथ रुके थे। वहां उन्होंने एक छोटा स्कूल खोला। एक जगत घुमक्कड़ यूरोपवासी अंग्रेजी के और जगदानंद राय गणित और विज्ञान के शिक्षक बने। बाद में इस स्कूल को वे शांतिनिकेतन ले गए। वहीं श्रीनिकेतन के भी पहले लक्षण प्रकट होने शुरू हुए। राजशाही के इतिहासकार और रवींद्रनाथ के मित्र अक्षयकुमार मैत्रेय की रुचि रेशम उत्पादन में थी और उनकी मदद से रवींद्रनाथ ने एक रेशम कीटपालन फार्म भी शुरू किया। एक ग्रामीण बैंक और एक को-आपरेटिव शुरू हुए। इन्हीं गतिविधियों के दौरान वे कालीमोहन घोष के संपर्क में आए जो बाद के दिनों में ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्यों में उनके प्रमुख सहयोगी बने।

यज्ञोपवीत संस्कार के तुरंत बाद जब वे हिमालय गए थे तो रास्ते में शांतिनिकेतन भी पहुंचे थे। उसके बाद समय-समय पर वे यहां आते रहे। 1888 में एक ट्रस्ट दान के आधार पर महर्षि ने शांतिनिकेतन को एक आश्रम में बदल दिया। इसके चार वर्ष बाद मुख्यतः सत्येंद्रनाथ ठाकुर की पहल पर मंदिर का निर्माण हुआ। सप्तमी पौष का उत्सव और गांव का मेला तभी शुरू हुए और वर्षों बाद अब भी जारी हैं। मंदिर की देखभाल अच्छी तरह से होती रही, हालांकि उसके एक तरफ का एक खंभा अब नहीं

है जो पुरानी तसवीरों में दिखाई पड़ता है। 1863 के इर्दगिर्द महर्षि ने मंदिर के साथ शांतिनिकेतन हाउस बनवाया जो अब भी मौजूद है। जब कभी रवींद्रनाथ शांतिनिकेतन आते तो इसी में टिकते थे। मंदिर के निर्माण के बाद उनके भानजे बालेंद्रनाथ ने यहां एक स्कूल की योजना बनाई। उनकी अस्वाभाविक मृत्यु के कारण यह योजना लागू न हो सकी लेकिन सियालदह में अपना निवास समाप्त करने के बाद 1901 में देवेंद्रनाथ की सहमति से रवींद्रनाथ ने शांतिनिकेतन में एक आवासीय स्कूल स्थापित किया। यह ब्रह्मचर्याश्रम की शुरुआत थी। जल्द ही यह उनकी गतिविधि का प्रधान क्षेत्र बन गया। ब्रह्मचर्याश्रम के मामलात की देखरेख के लिए रवींद्रनाथ ठाकुर के मुख्य सहयोगी ब्रह्म बांधव उपाध्याय बने जो रोमन कैथोलिक और वेदांती संन्यासी दोनों ही थे। ब्रह्म बांधव ने ही सबसे पहले ठाकुर को 'विश्व कवि' की उपाधि से विभूषित किया।

ब्रह्मचर्याश्रम की जीवनपद्धति प्राचीन भारतीय आश्रमों से मिलती जुलती थी। जीवन की पवित्र सादगी और अध्यापक और छात्रों के बीच निजी संबंधों की निकटता वहां की विशेषताएं थीं। कविपुत्र रथींद्रनाथ इस स्कूल के प्रथम विद्यार्थी थे और कविपत्नी मृणालिनी देवी आवासीय परिसर में छात्रों की देखभाल करती थीं। लेकिन नवंबर 1902 में बीमारियों के चलते वे चल बसीं। रवींद्रनाथ ही दोनों बेटों रथींद्रनाथ और समींद्रनाथ और बेटी मीरा की माता भी बन गए। इसी के साथ आश्रम के मामलों में भी प्रत्यक्षतः अविचल मानस से वे लगे रहे। दो और बेटियां माधुरीलता और रेणुका का विवाह पहले ही हो चुका था। रवींद्रनाथ को कई विछोह झेलने पड़े जिनमें से कुछ तो जल्दी-जल्दी घटित हुए। कुछ वर्षों बाद रेणुका भी न रही। 1905 में देवेंद्रनाथ का देहावसान हो गया। 1907 में समींद्रनाथ भी चल बसे। इन दुःखों का मुकाबला करते हुए वे आश्रम का काम भी संभालते रहे। सौभाग्यवश इस समय उन्हें मोहितचंद्र सेन, सतीशचंद्र राय, अजितकुमार चक्रवर्ती, जगदानंद राय, हरीचरण बंद्योपाध्याय, भूपेंद्रनाथ सान्याल, मनोरंजन बंद्योपाध्याय, कुंजबिहारी घोष और कुछ समय बाद विधुशेखर शास्त्री और क्षितिमोहन सेन जैसे आदर्श अध्यापकों का सहयोग मिला। रवींद्रनाथ काम में लग जाना चाहते थे, यह शांतिनिकेतन के स्कूल और सियालदह के ग्रामवासियों में उन्होंने जो किया, उससे ही प्रकट है।

रवींद्रनाथ के साहित्यिक कार्यों पर शांतिनिकेतन के जीवन ने अपनी छाप छोड़ी। जैसा सियालदह में जीवन था वैसा ही जीवन अब उन्होंने अपनाया तो उनकी सृजनात्मक शक्तियां यथार्थ की एक नई समझ से समृद्ध हो उठीं। उनकी कविता को भी नया चरित्र मिला जब उत्तरी और पूर्वी बंगाल की प्रकृति ने उस पर अपनी छाप छोड़ी। उनकी कहानियों में पद्मा नदी के बालुका तट, किनारे के नरकटों का झुरमुट, सूर्योदय और सूर्यास्त, गरीब लोगों का सीधासादा जीवन और सामान्य लोगों के मन की भावनात्मक उथलपुथल के

या तो संदर्भ हैं या उनका चित्रण हुआ है। सियालदह काल में ही 'सोनारतरी', 'चित्रा', 'चैताली', 'कल्पना', 'क्षणिका', 'कथा ओ काहिनी' लिखे गए। उनकी कविताओं में जीवन का यथार्थ चित्रण और सौंदर्य की समझ, भारत का तात्कालिक यथार्थ और उसका अतीत, तत्कालीन समाज और गंभीर आत्मबलिदान की महान ऐतिहासिक कथाओं की अभिव्यक्ति हुई है। जब उन्होंने शांतिनिकेतन काल में प्रवेश किया तो 'नैवेद्य' में उनकी कविता और अनेक लेखों में ध्यानमग्न भारत और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि का प्रकटीकरण हुआ। जिनमें वे शामिल थे, उन नाना प्रकार की गतिविधियों के जरिए वे भारत के अंतःकरण में प्रवेश करने का मार्ग खोज रहे थे। लगता है भारत का अंतर्तम सत्य उनको साक्षात हो गया था। 'चोखेर बाली' (1901) और 'नौका डूबी' (1903) के कथात्मक यथार्थ के जरिए वे 'गोरा' (1910) तक पहुंचे। इसमें राष्ट्र के सामने उस समय उपस्थित विभिन्न मुद्दों के चित्रण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में रुचि तो दिखाई ही पड़ती है, इससे रवींद्रनाथ की दिमागी दुनिया में गंभीर संक्रमण के संकेत भी मिलते हैं। संकीर्ण राष्ट्रवाद से ऊपर उठकर उन्होंने शाश्वत भारत का आविष्कार किया। इस काल का मील का पत्थर उनकी प्रसिद्ध कविता 'भारततीर्थ' है :

हे मोर चित्त, पुण्यतीर्थे जागो रे धीरे,
एई भारतेर महामानवेर सागरतीरे।

(ओ मेरे हृदय, इस भारत भूमि पर, व्यापक मानवता के तट पर, इस पुण्यतीर्थ में जागो)

बंगला राष्ट्रवाद के नेता की चेतना का संक्रमण अखिल भारतीय चेतना में हुआ। वर्तमान सदी के प्रथम दशक में रवींद्रनाथ अनेक सामाजिक आंदोलनों से जुड़े रहे जिससे उन्हें अपने देश को, उसे वर्तमान को अतीत से जोड़कर गहराई से जानने का मौका मिला। इस समय भारतीय प्रकृति और भारतीय इतिहास की परंपरा में वे नई सार्थकता तलाश रहे थे। उन्हें इतिहास में यह लगातार स्पष्ट होता जा रहा था कि भारतीय भूमि पर विभिन्न प्रजातियों की एकता के जरिए ईश्वर अपना कोई महान उद्देश्य मूर्त कर रहा है। सभी प्रजातियों की एकता का क्षेत्र यहां तैयार हुआ था क्योंकि भारतीय आध्यात्मिक प्रयासों का लक्ष्य भी एकता है।

इतिहास में राष्ट्रीय जीवन के गहन अर्थ की उनकी तलाश के साथ व्यक्तिगत जीवन में भी गहन आध्यात्मिक आकुलता के दर्शन होते हैं। संभवतः परिवार में एक के बाद एक होने वाली मौतों ने उन्हें जीवन का रहस्य तलाशने के लिए प्रेरित किया हो। 'देया' और 'गीतांजलि', 'राजा' और 'डाकघर' में उनकी आध्यात्मिक आकुलता उन्हें दृश्य जगत के पार अदृश्य में ले गई। पूर्ववर्ती दौर की सौंदर्य की खोज अब सौंदर्य के पार क्या

है, इसकी खोज में बदल गई। जीवन की धारणा में क्षोभ और मृत्यु की धारणा गहरे समा गई। स्वतंत्रता आंदोलन की टकराव भरी गतिविधियों की उत्तेजना से उन्होंने अपने आपको हटा लिया, शांतिनिकेतन के एकांत में रम गए और वहीं अपने कार्यक्रम की गतिविधियों में अपनी पूरी शक्ति केंद्रित कर दी। सियालदह में प्रारंभ किए गए ग्रामीण पुनर्निर्माण के उनके अनेक प्रयास अबाध गति से चलते रहे।

रवींद्रनाथ के पचासवें जन्मदिन के अवसर पर 1911 में भव्य पैमाने पर उनका जन्मदिन समारोह आयोजित हुआ। यह आयोजन बंगीय साहित्य परिषद के तत्वाबधान में हुआ और रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी, जस्टिस शरदचरण मित्र, आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय, जगदीशचंद्र बोस, मणींद्रचंद्र नंदी और अनेक प्रख्यात लोगों ने व्यवस्था की देखभाल की। जब पूरी दुनिया ने नोबेल पुरस्कार की शक्ल में उन्हें सम्मानित किया उसके बहुत पहले ही उनके राष्ट्रवासियों ने उनका सम्मान किया था।

पचास के बाद

1912 में रवींद्रनाथ इंगलैंड की तीसरी यात्रा पर गए। शायद यों ही घूमने फिरने के अतिरिक्त उनकी नजर में और कोई विशेष उद्देश्य न था। कुछ तथ्यों को ठीक से समझने के लिए निम्नलिखित बातों को जोड़ लेना जरूरी है।

उन्नीसवीं सदी से ही जोड़ासांको के ठाकुर कला और साहित्य में अपने सृजनात्मक योगदान के लिए जाने जाते थे। अवनींद्रनाथ द्वारा भारतीय कला में एक नए युग की पहल के कारण कलात्मक गतिविधियों के केंद्र के रूप में ठाकुर परिवार की प्रसिद्धि विदेशों में पहुंच चुकी थी जिसके कारण घर में देश और विदेश के अनेक विख्यात विद्वान लोगों का आना-जाना लगा रहता था। वस्तुतः प्रसिद्ध कलासमीक्षक आनंद कुमारस्वामी और सिस्टर निवेदिता इस परिवार के काफी घनिष्ठ थे और इसी कारण वे रवींद्रनाथ की साहित्यिक उपलब्धियों को नजदीक से जान सके। कुमारस्वामी ने रवींद्रनाथ की कविताओं का अनुवाद 'माडर्न रिव्यू' में किया। तकरीबन इसी समय इतिहासकार यदुनाथ सरकार ने रवींद्रनाथ के कई वर्षों के कार्य का अंग्रेजी अनुवाद एक साथ प्रकाशित किया। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि रवींद्रनाथ ने अपना 'अचलायतन' (1912) यदुनाथ सरकार को समर्पित किया है। इस तरह रवींद्रनाथ के कार्यों से गैरबंगाली पाठक परिचित हुए। यह प्रसिद्धि इंगलैंड भी पहुंची। सिस्टर निवेदिता द्वारा 'माडर्न रिव्यू' में 1912 में प्रकाशित 'काबुलीवाला' के अंग्रेजी अनुवाद ने अंग्रेज चित्रकार रोथेंस्टीन का ध्यान खींचा। उन्होंने रवींद्रनाथ में

गहरी रुचि जाहिर करते हुए अवनींद्रनाथ को पत्र लिखा। रवींद्रनाथ की अनेक कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद उन्हें भेजा गया। उसी समय दार्शनिक ब्रजेंद्रनाथ सील भी एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए इंगलैंड पहुंचे हुए थे। जब उन्होंने रवींद्रनाथ के कार्यों में विशिष्ट लोगों की रुचि देखी तो उन्होंने रवींद्रनाथ से इंगलैंड आने का अनुरोध किया।

रवींद्रनाथ जून 1912 में इंगलैंड पहुंचे। उनके साथ रथींद्रनाथ और पुत्रवधु प्रतिमा देवी थीं। रोथेंस्टीन पहली बार रवींद्रनाथ से 1911 में कलकत्ता में मिले थे। हालांकि तभी उन्होंने उनके व्यक्तित्व का आकर्षण महसूस किया था लेकिन उनकी प्रतिभा का तब उन्हें कोई अंदाजा नहीं था। रवींद्रनाथ ने रोथेंस्टीन को अपनी कविताओं का स्वयंकृत अनुवाद पढ़ने को दिया। रोथेंस्टीन के घर पर धीरे-धीरे रवींद्रनाथ अनेक अंग्रेज कवियों और बुद्धिजीवियों के संपर्क में आए। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय दो लोग थे। एक तो थे कवि डब्ल्यू.वी.येट्स जिनकी लिखी गीतांजलि की भूमिका ने रवींद्रनाथ की तरफ पश्चिम का ध्यान आकर्षित करने में बड़ी भूमिका निभाई। दूसरे थे सी.एफ. एंड्रूज जो रवींद्रनाथ और गांधी जी के परम प्रशंसक बने। येट्स ने रवींद्रनाथ की कविताएं पढ़ीं और उन्हें संदेह हुआ कि एक महान कवि उदित हो चुका है। इसके बाद इंडिया सोसाइटी ने 'गीतांजलि' का एक संस्करण छापा। 'चित्रांगदा', 'मालिनी' और 'डाकघर' के भी अनुवाद हुए। रवींद्रनाथ को एक महान कवि और बुद्धिजीवी के रूप में स्वीकार किया जाने लगा।

रवींद्रनाथ इंगलैंड से अमरीका गए। रथींद्रनाथ अरबाना में इलिनाय विश्वविद्यालय के छात्र थे। इसके कारण रवींद्रनाथ और विश्वविद्यालय के कुछ अध्यापकों के बीच चिट्ठी-पत्री हुई थी। स्वभावतः, रवींद्रनाथ को उस देश के अनेक हिस्सों से भाषण देने का निमंत्रण मिला। 'साधना' (1913) में संग्रहित इन भाषणों में उन्होंने अपने को केवल एक कवि के रूप में प्रस्तुत नहीं किया बल्कि इनमें उनके भीतर का मनीषी, बुद्धिजीवी और दार्शनिक प्रकट हुआ है। अमरीका से लौटकर इंगलैंड में उन्होंने भाषणों की एक शृंखला प्रस्तुत की। अक्तूबर 1913 में वे भारत लौट आए।

नवंबर में खबर आई कि विश्व का सबसे बड़ा साहित्यिक पुरस्कार, नोबेल पुरस्कार रवींद्रनाथ को प्राप्त हुआ है।

1916 में रवींद्रनाथ पुनः विदेश गए। हालांकि 'गीतिमाल्य' और 'गीताली' (1914) 'गीतांजलि' की ही शैली में लिखे गए हैं लेकिन आश्चर्यजनक रूप से रवींद्रनाथ के सृजनात्मक जीवन की दिशा में इस समय एक और मोड़ आया। प्रमथ चौधुरी द्वारा संपादित पत्रिका 'सबुजपत्र' ने इस परिवर्तन के लिए अवसर प्रदान किया। बैशाख 1321 बंगाब्द में देसी बानी में प्रगतिशील विचारों के वादे के साथ 'सबुजपत्र' का प्रकाशन शुरू हुआ। रवींद्रनाथ की जो कविताएं इस पत्रिका में प्रकाशित हुईं, वे बाद में 'बलाका' में संग्रहित

हुईं। वे 'गीतांजलि' के आध्यात्मिक वातावरण से बाहर निकल आए और इन कविताओं में जीवन की सारभूत गत्यात्मकता का विचार अभिव्यक्त हुआ। लगता है उनकी विदेश यात्राओं से इस तरह के विचार उनके मानस की सतह पर उभर आए। 'चतुरंग' (1916), 'घरे बाइरे' (1916) जैसे उपन्यास 'सबुजपत्र' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। इनमें रवींद्रनाथ के दृष्टिकोण में नया परिवर्तन प्रकट हुआ। रवींद्रनाथ के मानस के विकास का यह एक महत्वपूर्ण चरण है साथ ही बंगला साहित्य में एक महत्वपूर्ण योगदान भी। 1916 में ही प्रकाशित 'फाल्गुनी' में रवींद्रनाथ ने 'बलाका' में कविता के माध्यम से प्रतिपादित जीवनदर्शन को नाटक का रूप प्रदान किया।

1916 में जापान जाने से पहले रवींद्रनाथ विभिन्न जगहों पर घूम चुके थे। वे सियालदह के ग्रामीण पुनर्निर्माण के काम से भी जुड़े हुए थे। विश्व द्वारा सम्मानित पूरी दुनिया के कवि के दिमाग में उसके अपने लोग— जड़, क्षीणकाय और मूक लोग अब भी बसे हुए थे। वे जापान गए, फिर जापान से अमरीका गए और मार्च 1917 तक तकरीबन दस महीने वे देश के बाहर रहे। इस यात्रा के बाद उन्होंने कई चीजों के बारे में फिर से सोचना शुरू किया। इस यात्रा में उनके साथ भारत को चाहने वाले दो इंगलैंडवासी मित्र विलियम पियर्सन और एंड्रूज थे। इन लोगों के अतिरिक्त इस पार्टी के साथ नौजवान कलाकार मुकुल डे भी थे।

जापान में उन्होंने राष्ट्रवाद का उन्माद देखा। तकरीबन डेढ़ दशक पहले कलकत्ता में ओकाकुरा के जरिए जापानी सांस्कृतिक जीवन से पहली बार वे परिचित हुए थे और इसके शिष्ट पहलुओं से प्रभावित हुए थे। लेकिन एक बार जापान की धरती पर उतरने के बाद वे युद्धोन्माद के बारे में सचेत हो गए। इसी कारण उन्होंने एक के बाद एक 'नेशनलिज्म' के लेख उसी समय से लिखना शुरू किया और इन्हें अमरीका में भी पढ़ा। 'पर्सनैलिटी' (1917) नामक संग्रह में उनके द्वारा अपेक्षित शिक्षा के आदर्श, वैयक्तिकता की प्रकृति, व्यक्ति और विश्व के बीच संबंध जैसे विषयों पर अमरीका में दिए गए उनके भाषण संकलित हैं। अमरीकी जीवन पद्धति से उनके परिचय ने एक नए विचार को जन्म दिया। उन्हें लगा कि जिस दुनिया के आरपार लगातार वे घूम रहे हैं उसकी पंक्ति में अपने देश को भी खड़ा किया जाना चाहिए। ऐक्यबद्धता का यह कार्य शांतिनिकेतन में ही संपन्न हो सकता था। राष्ट्रवाद के अंधेपन ने मनुष्य को कल्याणकारी पथ से विरत कर दिया था। पुनः एकता के जरिए ही उसे वापस लाया जा सकता था। शिकागो से लिखे 1916 के एक पत्र में विश्वभारती से वे क्या-क्या अपेक्षाएं रखते थे उनके पहले संकेत हमें प्राप्त होते हैं। इस विचार ने उनके दिमाग में उस समय जड़ जमाई जब यूरोप युद्धोन्माद से ग्रस्त था।

जब वे देश लौटे तो राजनीतिक माहौल उथलपुथल से भरा था। उन्हें लगा कि इसमें उन्हें कोई भूमिका निभानी चाहिए। उनके कार्यों में से एक था 3 मई 1919 को नाइटहुड की पदवी लौटा देना जो उन्हें 1915 में प्रदान की गई थी। बातचीत के जरिए स्वशासन प्राप्त करने की चेष्टाएं हो रही थीं जबकि उत्साही और अधीर युवा समुदाय ने बल प्रयोग के जरिए सत्ता छीन लेने के उद्देश्य के प्रति अपने को समर्पित कर दिया था। एक समय रवींद्रनाथ ने उत्कट क्रांतिकारी अरविंद के प्रति लिखा था : 'अरविंद, रवींद्रेर लहो नमस्कार' और यह क्रांतिकारी संघर्ष जारी था। अंततः इस विषय पर एक रिपोर्ट तैयार करने के लिए रौलट कमेटी का गठन किया गया। लेकिन जब 1918 में वह रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो समूचे देश में तुरंत और स्वतःस्फूर्त विरोध हुआ। गांधी जी ने सत्याग्रह का आवाहन किया। शांतिपूर्ण जनसमुदाय पर पुलिस ने गोली वर्षा शुरू कर दी, निकास के सारे मार्ग बंद कर दिए ताकि वहां फंसे असहाय लोगों को मार डाला जाए। ब्रिटिश आतंक के इस पहलू से सारा देश स्तंभित रह गया। रवींद्रनाथ ने वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को अपनी प्रसिद्ध चिट्ठी लिखी, नाइटहुड की पदवी लौटा दी और इस रूप में इसके विरोध का अकेला प्रयास किया। अंग्रेज चरित्र के बारे में रवींद्रनाथ को एकदम दो विरोधी किस्म के अनुभव हुए। एक तरफ तो उन्हें उनकी नस्ली उद्दंडता का अनुभव हुआ तो दूसरी तरफ एंड्रूज और पियर्सन जैसे लोगों की मित्रता भी उन्हें प्राप्त हुई जो मानव कल्याण के प्रति समर्पित थे, उनसे और गांधी जी से देशसेवा के उनके कार्य में जुड़े। रवींद्रनाथ अंग्रेज प्रजाति की दो श्रेणियों का उल्लेख करते थे, उच्च और निम्न।

वे तब विश्वभारती के खयालों में उलझे हुए थे। अमरीका से उनकी वापसी के बाद यह विचार प्रतिदिन आवश्यक होता जा रहा था। सबसे पहले उन्होंने विश्वभारती के 'मानविकी अध्ययनों के अंतर्राष्ट्रीय केंद्र' के बतौर कल्पना की। उन्होंने गहराई से महसूस किया कि संकीर्ण राष्ट्रवाद का जमाना अब खत्म हो चला है। शांतिनिकेतन में एक ऐसा पवित्र संस्थान खोला जाएगा जहां दुनिया के सभी भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलने वाले लोग विवेक के अनुसंधान में व्यस्त होंगे। अष्टमी पौष 1325 बंगाब्द (24 दिसंबर 1918) को जहां विश्वभारती की स्थापना हुई, वहां अब 'संतोषालय' खड़ा है। संस्थान का औपचारिक कार्य अष्टादश आषाढ़ 1326 बंगाब्द को शोध और शिक्षण के रूप में शुरू हुआ। यहां यह उल्लेखनीय है कि तब शिक्षा का कोई परिणामवादी उद्देश्य नजर में नहीं था। इस अवसर पर अपने भाषण में रवींद्रनाथ ने घोषित किया : 'अब तक हम अपनी शिक्षा को किसी भी तरह चलाते जा रहे हैं तो उसका कारण है कि यह हमारी जरूरतों, जीविकोपार्जन के हितों से बंधी हुई है। इसी विध्वंसक दबाव की वजह से हम अपनी शिक्षाव्यवस्था को कोई विशिष्ट स्वरूप देने में अक्षम रहे हैं।' ब्रह्मचर्याश्रम की प्राइमरी

शिक्षा के स्तर से शिक्षा को उच्चतर शोध और स्वतंत्र अकादमिक कार्य की ऊंचाई तक उठाया गया। रवींद्रनाथ ने विश्वभारती का उद्देश्य ज्ञान का सृजन अर्थात शोध और अध्ययन रेखांकित किया था। इसी के साथ कलाभवन के तत्वावधान में संगीत और कला की शिक्षा की व्यवस्था थी। कलाभवन को नंदलाल बोस, सुरेंद्रनाथ कर, असित हलधर आदि की सेवाएं प्राप्त थीं। दिनेंद्रनाथ ठाकुर, मराठी उस्ताद भीमराव हसुरकर और नकुलेश्वर गोस्वामी के नेतृत्व में संगीत भवन प्रारंभ हुआ। नृत्य की मणिपुरी शैली में एक पाठ्यक्रम शुरू करने के लिए मणिपुर से बुद्धिमंत सिंह को बुलाया गया।

अष्टमी पौष 1328 बंगाब्द (1921) को रवींद्रनाथ ने एक विशिष्ट समारोह में इस संस्था को राष्ट्र को समर्पित किया। उसी दिन विश्वभारती सोसाइटी गठित हुई जिसका संचालन पहले से तय नियमों-विनियमों से होना था। इस समारोह की अध्यक्षता दार्शनिक ब्रजेंद्रनाथ सील ने की। उसी समय विश्वभारती में ग्रामीण पुनर्निर्माण और ग्रामीण विकास नामक दो महत्वपूर्ण विभाग अस्तित्व में आए। पियर्सन के बाद लियोनार्ड एमहर्स्ट इस संस्था में शामिल हुए थे। 1920 में अपनी अमरीका यात्रा के दौरान रवींद्रनाथ की एमहर्स्ट से भेंट हुई थी। 1921 में जब युवा एमहर्स्ट ने रवींद्रनाथ के ग्रामीण विकास कार्यक्रम में मदद करने के उद्देश्य से भारत आने का निर्णय किया तब श्रीनिकेतन शुरू किया गया। 6 फरवरी 1922 को सुरुल की श्रीनिकेतन कुटी में ग्रामीण पुनर्निर्माण केंद्र स्थापित हुआ और इस तरह ग्रामीण सुधार के कार्य विश्वभारती के शैक्षिक प्रयासों से जुड़ गए। इन तमाम वर्षों में रवींद्रनाथ यही स्वप्न संजोए रहे थे। इस संबंध में हमें विशेष रूप से एमहर्स्ट द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग को याद रखना चाहिए। शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन दोनों में गतिविधियों की दिशा एक दूसरे से एकदम अलग थी। शांतिनिकेतन की गतिविधियों में उच्चतर अकादमिक अनुसंधान, पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों पर शोध और रवींद्रनाथ के मानवतावादी और एकताकारी जीवनदर्शन को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करना शामिल थे। रवींद्रनाथ ने चाहा कि श्रीनिकेतन हमारे देश के दरिद्रताग्रस्त ग्रामीणों को आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास करे। ग्रामीणों को कृषि, बुनकरी, काष्ठकला की तकनीकों से इस तरह शिक्षित किया जाए कि वे दूसरों पर निर्भरता से मुक्ति प्राप्त करने की मानसिक और शारीरिक योग्यता का स्तर हासिल कर सकें।

गांवों और ग्रामीणों में एमहर्स्ट के दो वर्षों के काम के अनुभव के आधार पर शिक्षासत्र की कल्पना की गई। 1924 में शांतिनिकेतन के बाहरी हिस्से में शिक्षासत्र की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य था छात्रों को ऐसा प्रशिक्षण देना जिससे वे जीवन में कोई स्वतंत्र व्यवसाय करने में सक्षम हों। जो व्यवस्था लागू की गई उसमें परीक्षा का कोई प्रावधान नहीं था। इस नए संस्थान की बागडोर संतोषचंद्र मजुमदार को सौंपी गई। 1927 में शिक्षासत्र

शांतिनिकेतन को सौंप दिया गया जिसका यह प्रशिक्षण केंद्र बन गया। श्रीनिकेतन की ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्यवाहियों के साथ मिलकर यह काम करता था। बहरहाल, आज शिक्षासत्र तमाम अन्य स्कूलों की तरह मात्र एक स्कूल रह गया है। श्रीनिकेतन और शिक्षासत्र से ठाकुर के शिक्षा दर्शन के एक अंग को मूर्त करने की अपेक्षा थी और इस मामले में इसमें गांधी जी की बेसिक शिक्षा की धारणा के बीज छिपे हुए थे। जीविकोपार्जन की प्रक्रिया में सौंदर्य का तत्व शामिल करने के लिए 15 जुलाई 1928 को हलाकर्षण उत्सव शुरू किया गया। इसमें खुद रवींद्रनाथ ने हल जोता। उसी दिन शांतिनिकेतन में वृक्षारोपण समारोह भी शुरू किया गया।

अपने लेख 'भारत का केंद्र संस्कृति' में रवींद्रनाथ ने अध्ययन के एक नए केंद्र को स्थापित करने वाले प्रेरक विचारों को सूत्रबद्ध करने की चेष्टा की। इस लेख का उन्होंने देश और विदेश में अनेक जगहों पर पाठ किया क्योंकि वे विश्वभारती के विकास के लिए सबसे मदद लेना चाहते थे। भारत में वे जहां कहीं गए, गुजरात में किसी साहित्यिक सम्मेलन में या असम में एक भाषण यात्रा पर या दक्षिण या पश्चिमी भारत में, हर कहीं वे इस नवस्थापित विश्वभारती के बारे में अवश्य बोले। विदेश की एक और यात्रा की उन्होंने तैयारी की और 1920 में वे इंगलैंड, वहां से फ्रांस, हालैंड, बेल्जियम और अंततः अमरीका गए।

यह उनकी तीसरी अमरीका यात्रा थी। वे अनेक जगहों पर बोले और हर कहीं विश्वभारती का उल्लेख किया। अंग्रेजों ने ब्रिटिश ताज द्वारा प्रदत्त नाइटहुड लौटाने के उनके कार्य को कभी सदाशयतापूर्वक ग्रहण नहीं किया। इसी तरह अमरीकी प्रतिक्रिया में भी गरमाहट की कमी थी। वे अमरीका से इंगलैंड होते हुए फ्रांस लौटे और वहां से जर्मनी, स्विट्जरलैंड, डेनमार्क, स्वीडन और फिर जर्मनी, फ्रांस होते हुए भारत लौट आए। एक वर्ष दो महीने वे विदेशों में रहे यानी मई 1920 में वे यूरोप के लिए चले थे और जुलाई 1921 में भारत लौट आए। यूरोप में उनका शाही स्वागत हुआ। इस यात्रा में दिए गए भाषण 'क्रिएटिव यूनिटी' में संग्रहित हैं जिनमें सार्वभौमिकता की गूंज और मानव समुदाय की एकता का संदेश सुनाई पड़ता है। इस दुष्कर यात्रा के बाद भी वे शांतिपूर्वक विश्राम नहीं कर पाए और भारत के अनेक दूरस्थ स्थानों की यात्रा पर निकल गए।

इसी समय भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी दिशा परिवर्तन हुआ। दक्षिण अफ्रीका से महात्मा गांधी भारत लौट चुके थे और आंदोलन का नेतृत्व संभाल लिया था। रवींद्रनाथ पहले पहल गांधी जी से 1914 में मिले जब एंड्रूज की पहल पर गांधी जी फिनिक्स स्कूल के बच्चों को शांतिनिकेतन ले गए। ये बच्चे दक्षिण अफ्रीका से भारत आए थे। गांधी जी ने आश्रमवासियों से प्रार्थना की कि अपने नित्यकर्म उन्हें खुद संपन्न करने चाहिए

और आश्रम के नौकरों-सेवकों को छुट्टी दे दी जाए। इस विचार पर रवींद्रनाथ ने सहमति की मुहर लगा दी। तब से प्रत्येक वर्ष 10 मार्च का दिन आश्रम में गांधी पुण्याह के रूप में स्वयंसेवा के जरिए मनाया जाता है। उसके बाद रवींद्रनाथ और गांधी जी अनेक बार मिले। गांधी जी आश्रम के तौरतरीकों का अनुकरण करते थे और रवींद्रनाथ को इसीलिए 'गुरुदेव' भी कहा। लेकिन गांधी जी के असहयोग आंदोलन के मामले में रवींद्रनाथ के उनसे मतभेद रहे। यह उनकी महानता का अचूक लक्षण है कि ये दोनों महान व्यक्ति प्रत्येक चीज के बारे में सोचते हुए अपनी निजी चिंतनधारा पर डटे रहे फिर भी उनमें अनंत आपसी सम्मान भाव बना रहा। 1921 में रवींद्रनाथ यूरोप की एक यात्रा से लौटकर आए थे जहां उन्होंने मानव समुदाय की अखंडता और पश्चिमी और पूर्वी सभ्यताओं में सहयोग का भावोत्तेजक संदेश दिया था। उन्होंने विश्वभारती में पूरी दुनिया को एक साथ लाने का सपना देखा था। उनके अनुसार असत्य से संघर्ष और सत्य से सहयोग करना चाहिए। 6 सितंबर 1921 को जोड़ासांको के विचित्र भवन में रवींद्रनाथ और गांधी जी के बीच ऐतिहासिक वार्तालाप हुआ था।

1916 में जब रवींद्रनाथ ने विश्वभ्रमण किया था तब से पूरी दुनिया को प्रभावित करने वाले प्रश्नों में वे गहरे डूबे रहे। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध द्वारा व्यापक तौर पर विनष्ट मानव सभ्यता के पुनरुद्धार के बारे में सोचा और जब वे देश लौटे तो इस पुनरुद्धार का मार्ग निर्देशन करना चाहा। उनके काव्यसृजन की धारा अवरुद्ध हो गई थी। देश लौटने पर उन्होंने अपने आपको इसके प्रति पुनः समर्पित किया और 'पूरवी' की कविताएं प्रकट हुईं। इसी बीच उन्होंने 'पलातका' (1918) और एक नाटक 'मुक्तधारा' (1922) भी लिख लिया था। मुक्तधारा में राष्ट्रवाद पर उनके विचार प्रतिबिंबित हुए हैं। साहित्य के क्षेत्र में नए किस्म के यथार्थवाद से प्रतिबद्ध एक नया समुदाय उदित हो चुका था। क्रमशः वे विभिन्न ज्वलंत प्रश्नों से संबंधित बहस में शामिल होते गए। ये बहसें मुख्यतः रवींद्रनाथ के सृजनात्मक कार्यों में निहित साहित्यिक आदर्शों से संबंधित थीं और तकरीबन संपूर्ण तीसरे दशक में साहित्य का यथार्थवादी आदर्श ही हावी रहा। तब तक बंगला साहित्यिक परिदृश्य में शरतचंद्र चट्टोपाध्याय और नजरुल इस्लाम अपनी जगह बना चुके थे। 'पूरवी' की कविताओं में रवींद्रनाथ ने अपने सदा पोषित साहित्यिक आदर्शों को फिर से नई अभिव्यक्ति दी। 1923 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर उन्होंने कई भाषण दिए जिनमें अपने साहित्यिक आदर्शों को विस्तार से व्याख्यायित किया।

वे पुनः विदेश गए। पश्चिम तो वे अनेक बार हो आए थे लेकिन पूरब में जापान को छोड़कर अन्य जगहों से घनिष्ठ परिचय अभी बाकी था। उन्हें चीन का निमंत्रण मिला। मार्च 1924 में उन्होंने कालिदास नाग, नंदलाल बोस, एमहर्स्ट और क्षितिमोहन सेन के

साथ भारत से प्रस्थान किया। चीन में तब सुनयात सेन के नेतृत्व में प्राचीन शासकों से मुक्ति के बाद नया युग आया था। रवींद्रनाथ को सुनयात सेन का निमंत्रण मिला लेकिन वे उनसे मिल न सके। हांगचाउ, शंघाई, नानकिंग, पेकिंग इत्यादि विश्वविद्यालयों के बुद्धिजीवियों और नौजवानों के बीच पूरब के आदर्श के बारे में उन्होंने अपने विचार रखे। चीन में वे एक महीना अठारह दिन रहे।

चीन से वे जापान गए और एक महीने से भी कम समय तक वहां रहे।

वे कलकत्ता लौटे लेकिन लंबे दिनों तक आराम न कर सके। दक्षिण अमरीका के देश पेरू से उस देश की स्वतंत्रता की सौवीं जयंती के अवसर पर पहुंचने का निमंत्रण था। प्रस्थान करने से पहले उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध नाटक 'रक्तकरवी' (1924 में 'प्रवासी' में प्रकाशित) का लेखन कार्य पूरा किया।

सितंबर 1924 में वे मद्रास से चले। स्वस्थ न होने से वे पेरू न पहुंच सके और अर्जेंटीना में रुक गए। वहीं उनकी भेंट विक्टोरिया ओकाम्पो से हुई। वे एक अभिजात, एक बुद्धिजीवी और स्पेनी भाषा की मशहूर कवयित्री थीं। ज्यों ही उन्हें पता चला कि रवींद्रनाथ ब्यूनस आयर्स आए हैं उन्होंने रवींद्रनाथ को मेहमान बनाकर रखा और उनके स्वास्थ्य की देखभाल की भी जिम्मेदारी उठा ली। रवींद्रनाथ ने अपनी पुस्तक 'पूरवी' परदेस की अपनी इसी प्रशंसिका को समर्पित की है। ब्यूनस आयर्स से लौटते हुए रवींद्रनाथ इटली गए (1925)। वे कुछ ही दिन वहां रुके लेकिन भारत लौटते ही उन्हें इस देश की दोबारा यात्रा का निमंत्रण मिला। 1926 में यूरोप की यात्रा का पहला पड़ाव उन्होंने इटली में ही डाला। वहां वे ड्यूक, बेनिटो मुसौलिनी से मिले और बातें कीं। इटली से वे स्विट्ज़रलैंड, फ्रांस, इंगलैंड, और नार्वे गए। नार्वे से वे स्वीडन, डेनमार्क, जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, हंगरी, युगोस्लाविया, बल्गारिया और रूमानिया गए। भारत वे ग्रीस से रवाना हुए। यह पूरी यात्रा 1926 में मई से नवंबर तक चली।

1927 में रवींद्रनाथ वृहत्तर भारत यानी जावा और इंडोनेशिया की यात्रा पर गए। उनके साथ कालिदास नाग, सुनीतिकुमार चटर्जी, सुरेंद्रनाथ कर और धीरेन कृष्ण देव वर्मा भी थे। जब वे प्राचीन भारतीय सभ्यता के एक के बाद दूसरे अवशेषों से गुजरते रहे तो उनके दिमाग में नाना प्रकार के खयालाता आए। 'जावायात्रीर पत्र' में उनका यह मनन सुरक्षित है।

1929 में इसके बाद वे कनाडा की यात्रा पर गए और इसके अंत में तीसरी बार जापान गए। कनाडा में उन्होंने अपना प्रसिद्ध भाषण 'अवकाश का दर्शन' दिया।

1926 और 1930 के बीच रवींद्रनाथ की अनेक प्रसिद्ध पुस्तकें प्रकाशित हुईं। काव्य संग्रह 'महुआ', 'योगायोग' और 'शेषेर कविता', उपन्यास 'तपती' और 'शेषरक्षा',

कई नाटक और सांगीतिक नाटक 'ऋतुरंग' प्रकाशित हुए। इसके अलावा उन्होंने कई भाषण, संबोधन और लेख तैयार किए। उनके अध्यक्षीय संबोधनों में इंडियन फिलासाफिकल कांग्रेस के 1926 के सत्र का अध्यक्षीय भाषण विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने पारंपरिक भारतीय आचारविचारों से विपथगामियों की तरह देखे जाने वाले बाउलों के मानवतावादी दर्शन पर विचार किया। संक्षिप्त शीर्षक 'दि फिलासाफी आफ आवर पीपुल' भी ध्यान देने योग्य है। यह उनकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि रिलिजन आफ मैन' की बीजरूप अभिव्यक्ति थी। पुस्तक में उन्होंने उन्हीं विचारों को अपनी अनुभूतियों के परिष्कारक प्रकाश में पुनः प्रस्तुत किया। इस भाषण के पाठ के लिए 1930 में वे पुनः इंगलैंड पहुंचे।

इस बार दुनिया को रवींद्रनाथ के एक और पहलू का परिचय मिला। पेरिस में उनके चित्रों की प्रदर्शनी लगी। साठ वर्ष की आयु के बाद रवींद्रनाथ ने चित्रकारी की कला में काम शुरू किया। मूलतः यह अक्षरों की सजावट (डूडल्स) के रूप में शुरू हुआ और फिर क्रमशः चित्रकारी तक पहुंचा। इस कला में उन्होंने कोई औपचारिक प्रशिक्षण नहीं प्राप्त किया था बल्कि यह दक्षता उन्हें अपने आप हासिल हो गई। पेरिस प्रदर्शनी के अंत में वे इंगलैंड आक्सफोर्ड के मानचेस्टर कालेज पहुंचे और हिबर्ट लेक्चर्स दिया। अब तक इन लेक्चर्स में केवल प्रसिद्ध दार्शनिक ही बोलते आए थे। रवींद्रनाथ इस भाषण के जरिए दुनिया के नेतृत्वकारी दार्शनिकों की पांत में आ गए।

जैसे-जैसे वे इंगलैंड से जर्मनी और डेनमार्क घूमते गए, उनके चित्रों की प्रदर्शनी से विभिन्न देशों के कलाप्रेमियों को सहमतिपरक आश्चर्य का झटका लगा। जब वे जेनेवा में थे, उन्हें रूस घूमने का निमंत्रण मिला और वे इस भ्रमण के लिए तैयार हो गए। प्रथम विश्व युद्ध खत्म होता उसके पहले ही रूस में एक सामाजिक क्रांति घटित हो चुकी थी। दुनिया के विभिन्न हिस्सों में छिटपुट खबरें टुकड़ों-टुकड़ों में पहुंच रही थीं, लेकिन उनसे कोई पूरा चित्र नहीं उभर रहा था। लेकिन इन तमाम वर्षों में क्रांति की उपलब्धियों और सफलताओं को प्रत्यक्ष देखने की उत्सुक जिज्ञासा बनी रही थी। रवींद्रनाथ ने कभी आत्मनिर्भर स्वशासित समाज की कल्पना की थी। लेकिन भारत में विदेशी शासन के चलते यह संभव न हो सका था। जार के शासन से मुक्ति पाकर रूस ने किस तरह शिक्षा, सहकारिता और आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र में प्रगति की है, इसकी खबरें भारत पहुंच चुकी थीं। रवींद्रनाथ की व्यक्तिगत रुचि अधिक गहरी थी क्योंकि वे देखना चाहते थे कि श्रीनिकेतन के स्तर पर किए जा रहे प्रयोगों को अगर एक विशाल देश के पैमाने पर किया जाए तो उसके क्या परिणाम होंगे।

मास्को में रवींद्रनाथ तकरीबन पंद्रह दिन रुके। उनके चित्रों की एक प्रर्दशनी वहां

लगी, उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों के ख्यातिलब्ध व्यक्तियों के साथ विचार विमर्श किया। उनकी 'रूसेर चिठि' इस बात का प्रमाण है कि पूरे राष्ट्र के स्तर पर किए जा रहे प्रयासों की एकता से वे कितने गहरे मुग्ध हुए थे।

अपने चित्रों को लेकर वे रूस से अमरीका गए। पश्चिम की इस अंतिम यात्रा से जनवरी 1931 में वे भारत लौट आए।

इसके बाद दो अवसरों पर वे भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर गए : 1932 में फारस और इराक और 1934 में सिलोन। वे फारस हवाई मार्ग से गए हालांकि यह यात्रा इन दिनों एकदम आसान न थी। फारस की परंपरा काफी पुरानी है और भारत के साथ इसका संपर्क इतिहास के प्रारंभिक दिनों से रहा है। रवींद्रनाथ के पिता हाफिज की शायरी में खास रुचि रखते थे और पुराने कवियों की याद ने हमारे युग के कवि में नई संवेदनाएं जाग्रत कर दीं।

सत्तर के बाद

रवींद्रनाथ की अनेकानेक विदेश यात्राओं के दरम्यान बहुविध स्मरणीय घटनाएं घटीं। यूरोप की अपनी अंतिम यात्रा के बारे में उन्होंने खुद कहा है कि उस यात्रा में क्या घटित हुआ, इसका किसी ने सावधानीपूर्वक रिकार्ड नहीं रखा। किसी ने रखा होता तो सचमुच यह एक अद्‌भुत दस्तावेज होता। रवींद्रनाथ में पूरी दुनिया ने एक कवि, एक दार्शनिक, एक चित्रकार, सब कुछ एक साथ देखा। उनके जितनी यात्राओं का तनाव कितने लोग झेल पाए होते?

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के इस चिंतक के देश को प्रभावित करने वाली समस्याएं बहुतेरी थीं। गांधी जी का आंदोलन अब भी बंद नहीं हुआ था। चटगांव के साहसी युवकों के एक दल के सशस्त्र विद्रोह से देश आंदोलित था। सांप्रदायिक जहर घुलने लगा था। सत्तर वर्ष के वृद्ध कवि ने सितंबर 1931 में हिजली जेल के कैदियों पर गोली वर्षा के विरोध में कलकत्ता में आयोजित एक सभा की अध्यक्षता की। 1932 में तत्कालीन सरकार ने भारतीय जनता में भेद और तफरका पैदा करने के उद्देश्य से कम्युनल अवार्ड की घोषणा की। इसके विरोध में गांधी जी ने यरवदा जेल में भूख हड़ताल शुरू कर दी। इस अनुचित कदम के विरोध में गांधी जी द्वारा आत्मत्याग के निर्णय पर सम्मान प्रकट करते हुए रवींद्रनाथ ने गांधी जी को एक पत्र लिखा। गुरुदेव का पत्र गांधी जी के लिए शक्ति का स्रोत साबित हुआ। रवींद्रनाथ अपने आपको दूर न रख सके और दौड़कर गांधी जी के पास पहुंचे।

एक समझौता हुआ। गांधी जी ने अनशन खत्म किया और रवींद्रनाथ ने उनके लिए गीत गाया 'जीवन जखन शुकाए जाए' (जब हृदय कठोर और शुष्क हो जाए)। यहां इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि रवींद्रनाथ के जीवन काल में गांधी जी अंतिम बार शांतिनिकेतन फरवरी 1940 में आए। उसी समय रवींद्रनाथ ने गांधी जी से अपनी अंतिम इच्छा व्यक्त की कि रवींद्रनाथ की मृत्यु के बाद शांतिनिकेतन की देखभाल गांधी जी करें।

1931 में रवींद्रनाथ जब सत्तर वर्ष के हुए तो देशवासियों ने बड़े स्तर पर इसे मनाने के लिए समारोह आयोजित किया। इस अवसर पर प्रकाशित 'दि गोल्डेन बुक आफ ठाकुर' में विभिन्न देशों के महान व्यक्तियों के श्रद्धावचन संग्रहित किए गए। बंगला में भी वर्षगांठ को समर्पित 'स्मारपत्र जयंती उत्सर्ग' प्रकाशित हुआ। इन समारोहों से संबंधित पहले दिन की कार्यवाही का सभापतित्व शरतचंद्र चट्टोपाध्याय ने किया।

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अनेक रूपों में रवींद्रनाथ को सम्मानित किया। 1921 में पहली बार जगततारिणी पदक रवींद्रनाथ को प्रदान किया गया। साहित्य के सिद्धांत पर एक व्याख्यानमाला के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया। 1932 में पुनः कमला लेक्चर्स देने के लिए उन्हें बुलाया गया। वे मानव धर्म के बारे में बोले। इस विषय पर दो वर्ष पहले भी आक्सफोर्ड में हिबर्ट लेक्चर्स में वे बोल चुके थे। 1932 में रवींद्रनाथ ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का पद स्वीकार किया और कुछ भाषण दिए। उनके और कलकत्ता विश्वविद्यालय के निर्माता आशुतोष मुखर्जी के बीच गहरा परस्पर सम्मान भाव बना रहा। वे हमेशा बंगला भाषा को उसके उचित स्थान पर स्थापित करने के मामले में आशुतोष के प्रयासों को कृतज्ञतापूर्वक याद करते थे। 1926 में जब विश्वभारती का कालेज सेक्शन शिक्षा-भवन खुला तो केवल आशुतोष के कारण कलकत्ता विश्वविद्यालय से उसके अति विशेष संबंधों को मान्यता मिली। रवींद्रनाथ विश्वविद्यालय के शोध प्रबंधों के परीक्षक रहे और 1938 में बंगला में दीक्षांत भाषण देकर इतिहास का निर्माण किया।

उनके अपने विश्वविद्यालय में दो बड़े विभागों, चीना भवन (1937) और हिंदी भवन (1938) का उद्‌घाटन हुआ। 1924 में जब रवींद्रनाथ चीन गए थे तो तानयुन शान से उनकी भेंट हुई थी। वे ही चीना भवन के पहले निदेशक बने। कवि से प्रभावित होकर उन्होंने सिनो-इंडियन कल्चरल एसोसिएशन की स्थापना की। इसकी एक शाखा शांतिनिकेतन में थी। इसी से समय पाकर चीना भवन विकसित हुआ। इस संस्था के लिए आवश्यक धन प्रोफेसर तान ने चीन से जुटाया। हिंदी भाषी व्यवसायी जो ज्ञान के उद्देश्य में मदद करना चाहते थे, उन्होंने हिंदी भवन की स्थापना में मदद की। प्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी भवन के प्रथम निदेशक बने। हिंदी का

अध्ययन, बहरहाल, शांतिनिकेतन में क्षितिमोहन सेन के जरिए पहले ही शुरू हो चुका था जिन्होंने इस सदी के प्रथम दशक से ही संतों के मध्यकालीन साहित्य का अध्ययन जारी रखा था। इस तरह के अध्ययनों को हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक प्रकार की पूर्णता दी। पुराना ब्रह्मचर्याश्रम धीरे-धीरे विकसित होकर भारतीय विश्वविद्यालयों में एक विशेष स्थान प्राप्त कर बैठा। यह ऐसा केंद्र बना जहां ज्ञान की विविध शाखाओं का पल्लवन होता था, जिसने देश के विभिन्न भागों और विदेश से भी विद्वानों और ख्यातिलब्ध व्यक्तियों को आकर्षित किया, जिसे रवींद्रनाथ जैसी महान प्रतिभा की भौतिक निकटता हासिल थी, जिनके संपूर्ण मानव जाति को आविष्ट करने वाले चिंतन-मनन के फलस्वरूप इस संस्था में चिंतन की नई कोटियों का उन्मेष हुआ। रवींद्रनाथ की बारंबार विदेश यात्राओं के चलते इस संस्थान के उद्देश्य का क्षेत्र विस्तार और दूरगामी महत्व के उद्देश्यों का सूत्रीकरण हो सका। रवींद्रनाथ ने विश्वभारती के लिए यात्राएं कीं लेकिन अपने जीवनकेंद्र से कभी विचलित नहीं हुए। अपनी बांसुरी के साथ एक बार वे पदयात्रा पर निकले और चलते-चलते राजमार्ग पर पहुंच गए। सत्तर वर्ष की आयु में कवि ने पीछे मुड़कर अपने अतीत को देखा :

छिलाम जबे मायेर कोले
बांशि बाजानो शिखाबे बेले
चोराइ करे एनेछ मोरे तुमि,
विचित्रा हे, विचित्रा
जेखाने तव रंडेर रंगभूमि।

(जब मैं अपनी मां की गोद में था तभी बांसुरी बजाना सिखाने का प्रलोभन देकर तुम मुझे बहका लाए। हे अद्‌भुत, वहां जहां तुम्हारा रंगभरा दृश्यपटल विराजमान है।)

वे वही बांसुरी बजाते रहे। उनकी कविता पर नए युग के भी प्रभाव पड़े। अपने जीवन के अंतिम दशक में उन्होंने कविता, गीत, नृत्यनाटक, यात्रावृत्तांत, समीक्षा, उपन्यास और चिंतनपरक लेखों का समृद्ध योगदान किया। बंगला साहित्य के नए कवियों के रूप में जो जाने जाते हैं वे सभी इसी दशक में उभरे। पहले 'पूरवी' के जमाने में बंगला कविता में नई धुन सुनाई पड़ी थी और अब नवीनता और ज्यादा मुखर हो उठी। जीवनानंद, बुद्धदेव, सुधींद्रनाथ, विष्णु डे जैसे उत्तररवींद्रनाथ पीढ़ी के नौजवान कवियों ने अपनी भाषा, शैली और विचार के चलते कविता की नई राहें बनाईं। मुक्त छंद का चलन अस्तित्व में आया। 1932 के बाद रवींद्रनाथ ने भी 'पुनश्च' संग्रह की कविताओं के साथ मुक्त छंद में लिखना शुरू किया। इस दशक में रवींद्रनाथ के कुल कविता संग्रहों की संख्या

पंद्रह है जिनमें से 'पुनश्च' (1932), 'शेष सप्तक' (1934), 'पत्रपुट' (1936), 'श्यामली' (1936) मुक्त छंद में हैं। सूक्ष्म अवलोकन से जाहिर होता है कि रवींद्रनाथ का मानस एक गहरे परिवर्तन से गुजर रहा था। वे अधिकाधिक वैज्ञानिक चेतना संपन्न होते जा रहे थे और जीवन के ठोस तथ्यों से एक दार्शनिक दूरी विकसित कर रहे थे। कविता सादा लेकिन चिंतनपरकता से भरती जा रही थी। 1938 में लगता है वे तकरीबन मृत्यु के अंधकार से बाहर निकले। ये अनुभव 'प्रांतिक' की कविताओं में वर्णित हैं। उनके आखिरी वर्षों का निवास स्थल श्यामली भी उसी साल बना। यह इस बात का संकेत लगता है कि कवि मां भूमि की बांहों में लौटने के लिए तैयार है। वे छंद की लय की ओर लौटे। स्वभावतः यह आयु के धीमेपन के अनुरूप था। वापस उनकी कविता ने मानव समाज, परियों की दुनिया, बाउल की तरह मनुष्य के अभ्यंतर की खोज, बचपन की स्मृतियों और उत्पीड़ित मनुष्य की वेदना की राह ली।

अपने साहित्यिक प्रयोगों और सृजन की नवीनता के लिहाज से वे थके नहीं थे। उन्होंने गद्य गीत लिखे। नृत्यनाटक उनका एक और अद्‌भुत सृजन है। उन्होंने अपनी पुरानी कविताओं को नृत्य नाटक में रूपांतरित किया और 'चित्रांगदा', 'श्यामा', 'चंडालिका' की रचना हुई। प्राकृतिक मिथकों को 'नटराज ऋतुरंगशाला', 'नवीन', 'श्रवणगाथा' में संगीतबद्ध किया गया। उनके अंतिम दशक के उपन्यास हैं : 'दुईबोन' (1933), 'मालंच' (1934) और 'चार अध्याय' (1934)। इन उपन्यासों में 'गोरा' के विस्तार की जगह केंद्रीकरण और चमक दिखाई पड़ती है। अंत तक उनकी खोज की भावना और मस्तिष्क की दक्षता अक्षुण्ण रहे। 'विश्व परिचय' (1937) में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की उनकी पक्षधरता का पता चलता है, ज्योतिष विज्ञान संबंधी उनके वैज्ञानिक स्पष्टीकरणों से यह स्पष्ट है। कालांतर में कार्यकारण द्वारा निर्धारित इतिहास की प्रक्रिया के जरिए मानव सभ्यता के विकास में उनका अक्षुण्ण विश्वास प्रत्यक्ष हुआ है। दूसरी तरफ 'बंगला भाषा परिचय' (1938) से भाषा की प्रकृति को तलाशने में उनकी विशद रुचि का पता चलता है।

सार्वभौमिक भावबोध के कवि को अपनी मृत्यु के पहले सभ्यता के संकट का आभास हुआ। पूरब में जापान ने चीन पर आक्रमण किया और पश्चिम में रूस ने फिनलैंड पर बम बरसाए। जापानी कवि योनो नोगुची रवींद्रनाथ के प्रशंसक थे लेकिन एक चिट्ठी (1938) में उन्होंने नोगुची द्वारा जापान के चीन पर आक्रमण का समर्थन करने पर आपत्ति प्रकट की। यह चिट्ठी एक ऐतिहासिक दस्तावेज बन गई है। इसी तरह अविस्मरणीय है बीमारी की हालत में एक ब्रिटिश सांसद मिस रैथबोन का विरोध, जिन्होंने भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद का समर्थन किया था। तत्कालीन सभ्यतासंकट की छायाएं उनकी कविता पर भी पड़ीं। लेकिन मनुष्य की सारभूत अच्छाई में उनका विश्वास दृढ़ रहा।

वे मनुष्य को कभी धर्म या देश जितना छोटा समझ ही नहीं सकते थे। जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अतिक्रमण करता है तो मानव सभ्यता की आत्मभर्त्सना होती है। 'क्राइसिस इन सिविलाइजेशन' उनका आखिरी लेख है जो अपने जन्मदिन के मौके पर उन्होंने पढ़ा। कवि ने अस्सी वर्षों की यात्रा पूरी की।

कुछ दिनों से लगातार कवि को बढ़ती कमजोरी का अहसास हो रहा था। सितंबर 1940 में वे कलिंपांग घूमने गए। वहीं वे बीमार पड़ गए। तब से उनका स्वास्थ्य वृद्धावस्था के कारण चौपट होना शुरू हो गया। 25 जुलाई 1941 को शांतिनिकेतन से उन्हें कलकत्ता लाया गया। वहीं जोड़ासांको के पैतृक आवास में उन्होंने 7 अगस्त 1941 (21 श्रावण 1348 बंगाब्द) को अंतिम सांस ली।

2. श्रीनिकेतन की स्थापना

एल.के. एमहर्स्ट

उनतीस वर्ष की अवस्था में 1890 में रवींद्रनाथ ठाकुर को पैतृक संपत्ति की देखरेख के लिए पूर्वी बंगाल भेजा गया। वे सियालदह में रहे। उन्होंने बताया कि वहीं पहली बार गांव के लोगों, उनकी तकलीफों और खेती, कर्ज और खरीदबिक्री से संबंधित अनेक समस्याओं से उनका सीधा साबका हुआ। वहां भी उन्होंने उनके गीत सुने, उनके नाटक और उनके उत्सव देखे। उन्होंने बताया कि जमींदार या मालिक मानकर लोग उनके या जिला कलक्टर के सामने भिखारी की तरह आते थे। लगता, उनमें स्वतंत्र और आत्मनिर्भर मनुष्यों की तरह अपने पैरों पर खड़ा होने की शक्ति ही नहीं है। यह अनुभव वे कभी नही भूल पाए। दस साल बाद, तकरीबन चालीस वर्ष की आयु में, शांतिनिकेतन में अपना स्कूल चलाने के लिए वे कलकत्ता से परिवार सहित शांतिनिकेतन चले आए। उसके बाद से कुछ विचारों ने स्पष्टतः उनके दिमाग में घर कर लिया। वे थे : शिक्षा के नाम पर बचपन में उन्हें जो कुछ झेलना पड़ा था उन कुंठाओं से बच्चों को बचाने की कोशिश करना, जीवन की कलाओं (कविता, गीत, नाटक, नृत्य में अंग संचालन और चित्रकारी आदि) को परिष्कृत और विकसित करना, और अंततः, इस बात की खोज करना कि बंगाली ग्रामवासी अपने मजबूत पांवों पर सीधा खड़ा होना और कम-अज-कम अपनी कुछेक समस्याओं को खुद हल करना सीख सकता है या नहीं।

इनमें से अंतिम उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें किसी गांव के नजदीक जमीन के एक उपयुक्त टुकड़े की जरूरत थी, जहां रहकर अध्ययन किया जा सके और विज्ञान को अमल में लाया जा सके। इस सदी के शुरू के सालों में उन्होंने शांतिनिकेतन से एक मील पश्चिम दिशा में सुरुल गांव के ठीक बाहर बीस बीघा जमीन लार्ड सिनहा से खरीदी। पुराने सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर का बंगला और जहां 1870 में ईस्ट इंडिया रेलवे इंजनों के कुछ पुरजे जोड़ने के लिए रखे गए थे, जमाने से परित्यक्त वह शेड भी इसी के साथ लगे हुए थे। उन दिनों सुरुल स्वास्थ्य के लिए आरामगाह के रूप में जाना जाता था और मलेरिया जैसे मारक रोग की आफत से कतई मुक्त था। लेकिन मलेरिया से उतना मुक्त वह फिर कभी नहीं रहा।

फिर ठाकुर ने किसी आदमी की खोज की जो वहां रहकर उनके प्रयोग संचालित कर सके। बारी-बारी से उन्होंने अपने बेटे, अपने दत्तक पुत्र और अपने दामाद को अमरीकी कालेजों में भेजा, इस आशा से कि एक दिन लौटकर वे इस फार्म पर रहने आएंगे और समस्या की जड़ को दूर करने का कोई रास्ता निकालेंगे। उनका मानना था कि ग्रामीणों द्वारा अपनी सहायता आप करना ही उचित निदान है। विभिन्न कारणों से सुरुल में किए गए प्रयोगों से सकारात्मक की बजाए नकारात्मक नतीजे निकले। हालांकि ये प्रयोग भी उपयोगी रहे। 1920-21 के दरम्यान सी.एफ. एंड्रूज की प्रेरणा से नौजवानों के एक समूह ने आगे कुछ प्रयोग किए। इसके भी नकारात्मक नतीजे निकले। पूरी टीम मलेरिया की सांघातिक चपेट में आ गई। किसी नए विचार या अचानक बदलाव की मांग को पूरी दुनिया में किसान आशंका और संदेह की नजर से देखते हैं। सुरुल के किसानों की भी दुश्चिंता और उनके संदेह इन प्रयोगों से कतई कम न हुए।

1921 के वसंत में अमरीकी प्रवास के दौरान ठाकुर के दो अमरीकी मित्रों, सैम हिगिनबाथम और श्रीमती डब्ल्यू.वी. मूडी ने एमहर्स्ट नामक एक अंग्रेज नौजवान के बारे में उन्हें बताया। ये महोदय उस समय कार्नेल विश्वविद्यालय में कृषि विज्ञान पढ़ रहे थे और अंशकालीन अध्यापन से अपनी जीविका चलाते थे। उन्होंने बताया कि हालांकि ये सज्जन कैंब्रिज विश्वविद्यालय से इतिहास में एम.ए. कर चुके हैं, लेकिन उन्हें पता है कि भारत लौटकर वहां की ग्रामीण समस्याओं का प्रत्यक्षतः अध्ययन करने की इनमें पर्याप्त उत्सुकता है।

मुझे 1921 के वसंत की वह सुबह अच्छी तरह याद है जब इथाका में मेरे पास ठाकुर का तार पहुंचा। लिखा था, न्यूयार्क आकर मुझसे मिलें। मैंने शांतिनिकेतन और ठाकुर के बारे में पढ़ा था। उससे मैं हमेशा ही उत्तेजित रहता था। 1915 और 1918 के बीच, जब मैं भारत में था, मुझे उम्मीद थी कि शांतिनिकेतन देखने जरूर जाऊंगा। तुरत-फुरत मैं न्यूयार्क के लिए चल पड़ा। जैसा स्वागत मेरा ठाकुर ने किया, जीवन भर नहीं भूल सकता। उन्होंने कहा, 'शांतिनिकेतन में शिक्षा और कला का मेरा एक संस्थान है। लेकिन वह मुख्यतः अकादमिक है। उसके चारों और हिंदुओं, मुसलमानों और संथालों के गांव हैं। वे नष्ट हो रहे हैं। उनकी संस्कृति बड़ी प्राचीन है, लेकिन आजकल वे बीमार से लगते हैं। वे मर रहे हैं। इसकी वजह ढूंढने में आप वहां आकर मेरी मदद करेंगे? गांव चलने और रहने के लिए तैयार तो हैं न? इस पर विचार करें, सोचें। वैसे, क्यों न कल मेरे साथ ही चले चलें?' मैंने कहा, 'लेकिन अगर आपके किसी काम आना है, तो मुझे सबसे पहले कार्नेल में अपना कोर्स खत्म करना होगा।'

अगस्त 1921 में, इंगलैंड लौटते ही, तुरंत मैंने ठाकुर को तार भेजा, आ सकता हूं?

जवाबी संदेश चार्ली एंड्रूज ने भेजा, अभी नहीं, पैसा नहीं है। संयोगवश, शांतिनिकेतन के एक अध्यापक विली पियर्सन छुट्टी लेकर उन दिनों अपने घर मैनचेस्टर ही आए हुए थे। उनसे मशविरा करने मैं भागा और हम दोनों ने मिलकर तार किया, पैसा उपलब्ध है, आ जाऊं? जवाब आया, खुशी हुई, आ जाएं, रवींद्रनाथ ठाकुर।

28 नवंबर 1921 को मैं शांतिनिकेतन पहुंचा। ठाकुर से तुरंत मेरी मुलाकात कराई गई। उन्होंने कुछ इस तरह मेरा स्वागत किया : मैंने अपने विद्यार्थियों से बात कर ली है। उनमें से दस अभी ही कालेज छोड़कर किसानी सीखने के लिए तैयार हैं। अध्यापकों में से तीन, जो अंततः राजनीति में शामिल नहीं हो सके, वे भी मदद करना चाहते हैं। मेरा बेटा प्रशिक्षित इंजीनियर है, वह भी तैयार है। सुरुल में फार्म है ही। तो? आप लोग जल्दी से जल्दी कब चल देंगे?

मैंने उनसे कुछ समय मांगा ताकि भारत के कृषि प्रशिक्षण केंद्रों को देखकर वहां से कुछ औजार हासिल कर लूं और बंगला सीख लूं।

ठाकुर ने कहा, हां, जरूर देखिए। औजार भी ले आइए। लेकिन ये बंगला सीखने की क्या जरूरत है। हमारे विद्यार्थी और अध्यापक, सब अंग्रेजी जानते हैं। एक बार बंगला सीख लीजिएगा तो आप भी वही गलती कीजिएगा जो अनेक मिशनरियों ने की है। आप अकेले निकलकर देहात देखने चल दीजिएगा। मुझे उम्मीद है कि आप कभी गांव में अकेले न जाइएगा। अगर ग्रामीणों से कोई बात पूछनी है तो अपने सहकर्मियों या विद्यार्थियों में से किसी एक को अनुवादक बनाकर ही पूछिए-जांचिएगा। गांव और ग्रामवासियों को जानने और समझने का काम भारतीयों को ही करना है। आप अथवा कोई अन्य आगंतुक उन्हें यह सिखाइए कि क्या पूछना है और किस तरह पूछना है।

मैं तत्काल भ्रमण पर निकल पड़ा और इलाहाबाद सैम हिगिनबाथम से मिलने जा पहुंचा। वहां मैंने एक बकरा खरीदा। रेल के गार्ड को यह समझाने में मैं कामयाब हो गया कि इसे कुत्ता समझा जाए, कुत्ते के बक्से में और कुत्ते के टिकट पर ही इसे अपने साथ घर ले जाने दिया जाए। रवींद्रनाथ ठाकुर, कालीमोहन घोष, गौर गोपाल घोष, सुरेन कर और संतोष मजुमदार की सलाह और मदद से मैंने अन्य खरीदारियां कीं। उन दिनों इस बात का मुझे कम ही अहसास हुआ कि इन समर्पित सलाहकारों के आदर और प्रेम में कितना सम्मान छिपा हुआ था। मैंने द्विजेंद्रनाथ ठाकुर की पुत्रवधू बड़ोमा से लगातार बंगला सीखना शुरू कर दिया। वे तब जीवित थीं। वह पढ़ाई मुझे जल्द ही बंद कर देनी पड़ी।

जनवरी 1922 के शुरू में ठाकुर ने संदेश पठाया। उन्होंने कहा, 'बंगला सीखना बंद करिए। अपने सहकर्मियों और विद्यार्थियों के साथ शीघ्रातिशीघ्र कब सुरुल पहुंच

सकेंगे?' तीन हफ्ते बाद 5 फरवरी को हमने फोर्ड लारी में खाने-पकाने का सामान लादा और सुरुल चल पड़े। वहां पुराने इंजीनियर के बंगले में डेरा लगाया गया, मैं छत पर, अध्यापक नीचे और बीच की मंजिल पर विद्यार्थी। शाम को खाइयां खोदी गईं, बालटियां रखी गईं, पाखाना बनाया गया। कुआं नजदीक ही था। सुबह-सुबह कुएं पर ही अध्यापक और विद्यार्थी स्नान करते थे। लड़कों ने पूछा, 'लेकिन पाखाने की बालटी साफ करने के लिए मेहतर कहां से आएगा?' उनमें तीन ब्राह्मण भी थे। मैंने कहा, 'कोई फिक्र नहीं, सुबह-सुबह आपके लिए मेहतर आया करेगा।' सुबह लड़के नहा रहे थे कि तभी उन्होंने पाखाने की बालटियां साफ करते हुए मुझे देखा। तीन लड़के और हमारा लारी ड्राइवर, आलू राय, मदद के लिए दौड़ पड़े। उन्होंने कहा, 'अगर यह भी प्रशिक्षण का ही अंग है तो हम लोग भी अपना काम खुद ही कर लिया करेंगे।' धीरे-धीरे जाकर तीसरे महीने में अंतिम ब्राह्मण लड़के का प्रतिरोध भी टूट गया। उसके बाद से शायद ही कोई नीच या कठिन काम रहा हो, जिसे इन लड़कों ने खुशी-खुशी न किया हो।

कुछ दिनों तक ठाकुर से मेरी देखादेखी नहीं हुई। अध्यापकों में से ही किसी की मारफत वे जानकारी लेते रहते थे। उन्होंने मुझसे बताया कि उसी हफ्ते ठाकुर ने अपने बगीचे में खाई खोदी और अपने पाखाने की बालटी खुद ही साफ करनी शुरू कर दी। उनके पत्र पलटते हुए एक चिट्ठी में मैंने यह लिखा हुआ देखा। चिट्ठी पर 31 मार्च 1922 की तारीख पड़ी हुई है।

जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, सुरुल में आपके स्वराज से ईर्ष्या होती जा रही है। खासकर जब मैंने सुना कि वहां की मुर्गियों ने आपके कामनवेल्थ (राष्ट्रमंडल, लेकिन श्लेष से साझा संपत्ति—अनु.) में अंडों का योगदान किया है। प्लेटो के रिपब्लिक में कवियों के लिए कोई जगह नहीं है। ...इच्छा हो रही है कि युवा होता और वहां होने वाले नीच से नीच काम करने में समर्थ होता। सम्मान के उस फिल्मी सम्मोहन से तो मुक्त हो जाता, जो हमें धरती मां के निकट संपर्क से वंचित किए हुए है। धरती हम सबके जीवन का आदिम पालना है। एक मेहतर से उस देवी की सेवा के लिए कहना छद्मलज्जा की तरह अपने आपमें गंदा काम है।

हमने पाया कि गांवों में किसी परिवर्तन की राह में या तो जातिभेद या फिर सड़ी-गली जाति व्यवस्था की मौजूदगी से कई तरह की बाधाएं पैदा होती हैं। दो साल बाद ठाकुर के दिमाग में भी इसी तरह की बातें उठीं। उन्होंने मुझसे कहा :

> हमने भारत में विभिन्न जातियों के बीच जो अभेद्य सामाजिक दीवार खड़ी कर ली है, वही हमारी दुर्बलता का असली कारण है। इसी से हमारी स्वतंत्रता की

> भावना विकलांग हो गई है। इससे हमारे देशवासियों में समभाव का स्वाभाविक प्रवाह खंडित हो जाता है। एक बनावटी व्यवस्था की निरंतरता के लिए हमने प्रेम और परस्पर सम्मान का नियम भुला दिया है। इसकी वजह से पतन और पराजय का बोध पैदा होता है। इसी तरह भारत के लोगों ने अपने लिए पिंजरे स्वयं बनाए हैं, दूसरों से अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने के फेर में हमने अपने आपको गुलाम बना लिया है।

हालांकि जल्द ही सभी विद्यार्थी मेहनत से काम करने लगे, फिर भी हम सब जानते थे कि सबसे कठिन परीक्षा होनी अभी बाकी है? वर्षों से, संभवतः सदियों से काश्तकार, रैयत, भूमिहीन मजदूर, कारीगर जरूरत के वक्त मदद के लिए स्थानीय मालिकों, राजा, जमींदार या सरकारी अधिकारियों के पास दौड़ते रहने के आदी थे। दिसंबर में बातचीत करते हुए ठाकुर ने खुद इस समस्या का जिक्र किया था। मैंने उस समय अपनी डायरी में लिखा था :

> ठाकुर ने कहा कि हालांकि मैं जमींदार था, फिर भी सियालदह में रहते हुए मैंने अपने रैयतों से, कम से कम खुद के लिए, उठ खड़े होने और एक जोरदार चोट करने की प्रार्थना की। ऐसा होने पर, हो सकता है, पहली बार कड़ा विरोध हो और पता चले, कुछ लोग दूसरों का उत्पीड़न शुरू कर दें। मैंने उनसे कहा कि अगर ऐसा न करिएगा तो भगवान ही आपका मालिक है।

जैसा कि तय था, सबसे पहले देहाती इलाके में हम नवागंतुकों को देखकर भय और संदेह का संचार हो गया। 'आप लोग टैक्स अधिकारी हैं क्या, लगान वसूलने आए हैं या मिशनरी हैं, हमारे घर तोड़ने आए हैं?' मुझे बखूबी याद है, 1918 में दक्षिण भारत में एक गांव में इन सवालों से जूझना पड़ा था। गांव में उसके बाद उठने वाली दूसरी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। 'इन लोगों के पास उड़ाने के लिए पैसा है। लाभ कमाने के लिए इनके साथ कैसा व्यवहार किया जाए? चमचागिरी की जाए? मुट्ठी गरम की जाए या बेवकूफ बन जाया जाए ? अगर यह आदमी उत्पीड़कों में से नहीं है तो फिर भारी मूर्ख है। कितना अहमक है ?'

इसीलिए हमारी सबसे पहली समस्या तो थी कि किसी भी गांव से निश्चित संपर्क हो। फिर साबित किया जाए कि हम उत्पीड़क नहीं हैं। उसके बाद यह साबित किया जाए कि हम लोग मूर्ख भी नहीं हैं। हमें ग्रामवासियों का विश्वास जीतना था। फिर उन्हें समझाना था कि अपनी मदद आप करके वे लोग कई तरीकों से अपने आत्मसम्मान को

सुरक्षित और संवर्धित कर सकते हैं, अपने सामान्यतः दुःखद और निर्धनता पीड़ित वातावरण पर धीरे-धीरे मजबूत नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं, यही सिद्ध करना हमारा मुख्य उद्देश्य है।

पूर्वी बंगाल के बारे में पर्याप्त अनुभव संपन्न काली मोहन घोष शुरू से ही हमारे मुख्य अनुवादकर्ता और गांवों से संपर्क निर्माता रहे। गांव में हमारे बाद में होने वाले सभी कामों की नींव उन्होंने डाली। पहले आदमी से संपर्क होते ही यह बात उसके मन में बिठा दी कि चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, लड़का हो या लड़की, हरेक आदमी के प्रति उनके मन में बड़ा आदर भाव है, उन्हें यह पता है कि इनमें से हरेक उन्हें कुछ न कुछ सिखा सकता है। उनमें सबका आदर करने की क्षमता थी। बदले में आसानी से उन्हें भी आदर मिलता था। शुरू में गांव में जाने का कोई उत्साह नहीं होता था, कठिनाई तो निश्चय ही थी। स्थानीय जमींदारों से हमने दोस्ताना बरताव रखा, हालांकि उनकी शंका और भय कभी कम नहीं हुए।

एक दिन किसी गांव में मारपीट हो गई। जो घायल हुए, उन्हें प्राथमिक चिकित्सा के लिए हमारे यहां लाया गया। हमसे पूछा गया कि एक बीमार औरत की दवा करने हम गांव पहुंच सकते हैं? मैंने नौसिखिए की तरह उसका इलाज किया। संयोग से वह ठीक हो गई। बाद में कभी बड़े-बूढ़ों से हमने पूछा कि लड़कों को इकट्ठा कर उन्हें कुछ खेल आदि हम सिखा सकते हैं। ना! लड़के भी गांव के पशुओं को चराने में ही व्यस्त रहते थे, वैसे भी, अगर हम उन्हें पकड़ पाते तो कुछ कदमताल सिखाया होता। प्रथम विश्व युद्ध की तरह जल्दी ही वे मेसोपोटामिया भेज दिए गए होते। मान लीजिए कदमताल न कराया होता, शाम को कुछ खेल सिखा देते। इसकी बजाए क्यों न हम गांव आकर गोली से बंदरों को मार देते हैं? फसलों का उन्होंने नाश कर डाला है। हमने पूछा, 'गोली का खर्चा भरेंगे?' वे हिंदू खेतिहर थे। थोड़ी हुज्जत के बाद जवाब दिया, 'हां, देंगे। अब गांव में या तो बंदर रहेंगे या हम।' कुछ ही दिन बाद एक भयानक घटना हुई। एक छोटी सी चिनगारी से गांव के आधे मकान जल गए। दो दिन बाद हम लोग उस गांव में गए। लड़कों को इकट्ठा किया और अग्निशमन दल का अभ्यास कराया। बुजुर्गों ने कहा, 'रुकिए, हम आग लगाते हैं। देखते हैं, ये बच्चे कुछ कर पाते हैं या नहीं? थोड़ा सा पुआल जलाते हैं। देखें, सब बुझा पा रहे हैं कि नहीं?' पुआल लाया गया, एक पेड़ से बांधा गया और आग लगा दी गई। खतरे की घंटी बजी, बाहरी दल आग लगी जगह की ओर भागा और पांच मिनट में आग बुझा दी गई। तजुर्बेकार इकट्ठा हुए। उन्होंने काली मोहन से कहा, 'दादा, क्षमा कर दीजिए। अग्निशमन अभ्यास का फायदा हमने देख लिया। अगर आप राजी हों तो उम्रदराज लोग वही अभ्यास करना चाहते हैं। देखते

हैं, हम लोग लड़कों की तरह तेज हैं या नहीं?' उन्होंने अभ्यास किया, लेकिन आग बुझाने में उन्हें लड़कों से दो मिनट ज्यादा समय लगा। हमने पूछा, 'आपके अग्निशमन दल की अगुआई कौन करेगा?' उन्होंने कहा, 'यह आदमी।' हमने कहा, 'तब बालटी, सीढ़ी, घंटी और अंकुसा उसी के घर पर रहेंगे।' उन्होंने कहा, 'ना। यह आदमी हम सबमें हिम्मती जरूर है, लेकिन जब आग न लगी हो तो ये सज्जन संभवतः बालटी से खेती का काम करेंगे। फिर तो वक्त जरूरत बालटी कभी सही जगह पर नहीं मिलेगी। हां, वह एक आदमी रहा, जो बालटियों के सिलसिले में भरोसेमंद साबित होगा।' इस तरह मामला हल हुआ। इसके बाद हमें गांव में आने-जाने और उनसे सवालात पूछने की भरपूर आजादी मिल गई। बच्चों के साथ, और कुछ दिनों बाद, बच्चियों के साथ भी और समय बिताने के लिए हमें प्रोत्साहित किया जाने लगा।

अभी मैं इतना व्यस्त था कि ठाकुर से भेंट नहीं हो पाती थी। लेकिन बाद में मुझे अहसास हुआ कि अध्यापकों और छात्रों से वे हरेक कदम की खबर लेते रहते थे, बल्कि जितना मैं समझता था, उससे कहीं ज्यादा गहराई से।

ठाकुर ने इस बात पर जोर दिया था कि बढ़ना, कल्पना करना और खोज करना बच्चों की अपनी जरूरत होती है। इसी जरूरत के इर्दगिर्द शिक्षा का गठन कर यदि एक बार उन्हें हिला दीजिए, तो लड़के और लड़कियां गांवों में बड़ी भूमिका अदा कर सकते हैं। उनके माता-पिता के युगों पुराने आचार-विचार पर उनके चाल-चलन का असर परोक्षतः क्रांतिकारी सिद्ध होगा। बच्चों की उपलब्धियों में उनके माता-पिता अपने नकारात्मक पराजय-बोध और परनिर्भरता की जगह सकारात्मक दर्प को प्रतिबिंबित होता देखेंगे। उनमें अपनी मदद आप करने का बोध जाग्रत होगा, बशर्ते उनका विश्वास हम पर जमा रहे। ठाकुर ने बार-बार गहन सर्वेक्षण और जांच-पड़ताल के लिए हमें उत्साहित किया, किसी सिद्धांती की तरह सर्वेक्षण के लिए सर्वेक्षण नहीं, बल्कि हमेशा किसी समस्या विशेष को हल करने के लिए सर्वेक्षण। विज्ञान को हमारा गुलाम होना चाहिए, मालिक नहीं। दस साल बाद लिखी एक चिट्ठी से उनका दृष्टिकोण और स्पष्ट होता है। इस चिट्ठी से यह भी स्पष्ट है कि श्रीनिकेतन के हरेक पहलू की प्रगति से वे कितना लगाव महसूस करते थे।

उन्होंने लिखा, 'यह सही है कि जब मेरे पास फलां आदमी पहली बार आया तो उसके काम में पूर्ण स्वतंत्रता का आश्वासन मैंने दिया। मेरे दिमाग में यह बात भी थी कि काम एक साथ होगा, खंड-खंड में नहीं। मुझसे यह आशा मूर्खतापूर्ण हो सकती है, लेकिन यकीनन आप जानते हैं, जो भी मेरे पास आया और जिसने भी इस उद्देश्य के प्रति प्रेम भाव से अपनी सेवाएं अर्पित करने की इच्छा प्रकट की, उन सब कार्यकर्ताओं

का मैंने इसी तरह हमेशा स्वागत किया। इसके मानी यह नहीं कि चिड़ियों के पिंजरे की तरह हरेक चीज हमने उनके लिए तैयार कर दी। वरन यह कि, इस तरह के कामों में बाधाएं और कमियां होती ही हैं। इसके बावजूद धैर्य और लगन से अपने सहकर्मियों के बीच आपसी समझदारी और संस्था के प्रति अडिग विश्वास स्थापित कर वे अपनी जगह खुद बनाएं। अगर वे इसमें असफल होते हैं तो बजाए दूसरों के मत्थे सारा दोष मढ़ने के खुद इस बात पर विचार करें कि जो रास्ता उन्होंने चुना, वह उनके लिए अनजाना तो नहीं था। आप जानते हैं, जब पहली बार आप अजनबी की तरह मुझसे मिले, तो मैंने इसी तरह आपका प्रचुर स्वागत किया। आपका रास्ता आसान न था। उसमें कठोर बाधाएं थीं। आपने अपनी जगह बनाई और मेरे विश्वास को सही साबित किया। आपमें भविष्य को देखने की शक्ति थी, कल्पना संपृक्त बुद्धिमत्ता थी, आप वस्तुओं को समग्रता में देखते थे, निर्माण के दौरान जो कुछ अधूरा दिखाई दे रहा है उसे ही अंत न मान लेने का साहस था और इसी से आप अपनी जगह बना सके।

'जब से मैं समझदार हुआ, तब से अपने दिल में इसी कार्य को पूरा करने का सपना संजोए रहा, इसी आदर्श के लिए संघर्ष करता रहा। इस काम के लिए अलग-अलग खानों में बंटी शैक्षिक योग्यता नहीं चाहिए थी। अनाड़ी और अनपढ़ लोगों के बीच हमें 'विद्वानों का राज्य' नहीं बनाना था, हालांकि विद्वानों की सलाह भी जरूरी थी। ग्रामवासियों को सृजनात्मक विश्वास के जीवित स्पर्श की आवश्यकता थी। विज्ञान विभाजित जीवन के अलग-अलग टुकड़ों से संबंधित सांख्यिकी मात्र इकट्ठा करने के लिए उपयोगी उपकरणों का इस्तेमाल करता है। लेकिन उन्हें विज्ञान की ठंडी संपर्कहीनता नहीं चाहिए थी। मुझे याद है, आप अपने विश्वविद्यालय से कितने ताजादम निकले थे। आपकी वय भी तब कुछ खास नहीं थी। लेकिन आप कम से कम किताबी या नीरस बुद्धिजीवी तो नहीं ही थे। सहज मानवीयता के साथ आप गांव के सघनतम संपर्क में आए। गांव एक जीवित अस्तित्व है, कोई बौद्धिक समस्या नहीं कि गणितीय आंकड़ों से उसे हल कर दिया जाए। मैं ऐसे वैज्ञानिकों से मिला हूं जो समझते हैं कि मानवीय तथ्य उन्हें ज्ञात हैं, बस, मनुष्य को जानने की तकलीफ वे नहीं उठाना चाहते। उन्हें सृजन नहीं करना, कोई चीज बनानी नहीं है, यह काम उन्होंने किया भी नहीं। हालांकि ऐसे कामों में वे मददगार होते हैं। आपमें मानवीय सहानुभूति प्रचुर मात्रा में थी। यही बल था जिससे आप सामने खड़ी बाधाओं का पहाड़ लांघ सके। आप ने अपने काम को ठीक ही नाम दिया ग्रामीण पुनर्निर्माण कार्य, क्योंकि यह ग्रामीण जीवन को उसकी नाना गतिविधियों के जरिए समझने का जीवंत कार्य था, यहां मात्र विश्लेषणात्मक ज्ञान का उत्पादन नहीं होना था।

'कोई बाहर से श्रीनिकेतन को देखने आए तो हो सकता है दूसरे बड़े देशों की ऐसी

ही संस्थाओं से इसकी तुलना करे, हमारी कोशिशों की तुच्छता पर शर्मिंदा हो, इसे छोड़ देने की सलाह दे। यह ऐसा ही होगा जैसे कोई भारतीय माताओं की तुलना पश्चिमी माताओं से करे। हो सकता है पश्चिम में माताएं अपने कर्तव्य अधिक बुद्धिमानी और गुरुतर कुशलता से निबाहती हों। फिर हमें सलाह दे कि भारत को मातृकर्तव्य से छुट्टी पा लेनी चाहिए। हालांकि चिकित्सा विज्ञान की पूरी सहायता उन्हें नहीं मिलती, फिर भी भारतीय माताओं का प्रेम अपने काम कर ले जाता है। मुख्य बात यही है। उसी तरह, हमारे विनम्र कार्यकर्ताओं में सहानुभूति की जो अमूल्य निधि थी, उसने चमत्कार कर दिखाया। हो सकता है, इसकी अवमानना हो, इसका जिक्र न किया जाए, क्योंकि न तो इसे मापा गया, न ठीक-ठीक लिख रखा गया।

'श्रीनिकेतन की निरंतर सहानुभूति और प्रोत्साहन की प्रेरणा से आसपास के गांवों को भारी लाभ हुआ। इस काम को, वे चाहे कितने भी मूल्यवान हों, विज्ञान के कुछ निर्जीव अमूर्तनों के पक्ष में कम करके आंका नहीं जा सकता। मैं वैज्ञानिक नहीं हूं, किसी अकादमिक तथ्य के मुकाबले काम के मानवीय पहलू को अधिक मूल्यवान मानता हूं। मानवीय फैक्टर का स्थायी समायोजक निजी संपर्क और सहानुभूतिमूलक बौद्धिकता से ही निकाला जा सकता है। अगर ऐसा नहीं होता तो मुझे विश्वास नहीं कि विभिन्न संस्थाओं के प्रमुख, विद्वज्जन, सही काम कर रहे हैं। विशेषज्ञों का काम विस्तृत विश्लेषण और सांख्यिकी की मदद से इतिहास के निर्माताओं की सेवा करना है। ये इतिहासनिर्माता मनुष्यों के नायक होते हैं, उन्हें प्यार करते हैं, उन्हें कल्पनाप्रवण विवेक का वर प्राप्त होता है, उसी के सहारे वे ज्ञान को जीवंत और जनता के लिए स्वीकार्य बना पाते हैं।'

छह ही महीने के काम के बाद, हम लोग कोई गंभीर और विस्तृत जांच-पड़ताल चला पाए हों, उसके पहले ही, ठाकुर ने हमें अपनी खोजों को सूत्रबद्ध करने को कहा। उन्होंने पूछा, 'गांव के लोगों को अवसादमय वातावरण से बाहर निकालने की राह में आज की तारीख में सबसे बड़ी बाधा आपकी राय में क्या है?' हमने जवाब दिया, 'बंदर, मलेरिया और आपसी अविश्वास। बंदर फल और सब्जियां खा जाते हैं, आलू खोद डालते हैं, सब्जियां खा डालते हैं, गन्ना और अन्य फसलें नष्ट कर देते हैं। केवल चावल रह जाता है, वह भी पालिश किया हुआ। फल यह कि गांव के भोजन में कोई विटामिन नहीं, न के बराबर प्रोटीन, अब कटाई के मौसम में वे मलेरिया का प्रतिरोध करें तो कहां से। परिणामस्वरूप, गरीबी, कर्ज और फिर एक ग्रुप द्वारा दूसरों के उत्पीड़न का निरंतर भय, यहां तक कि किसी रचनात्मक या साझा उद्देश्य के लिए आपस में सहयोग असंभव हो गया है।'

शुरुआती दिनों में हमने सोचा कि सभी उपकरणों में से संभवतः अमरीका में हासिल

कृषि-विज्ञान की मेरी शिक्षा सबसे ज्यादा काम की होगी। इसकी बजाए हुआ यह कि कार्नेल में हासिल निरीक्षण और पद्धति संबंधी प्रशिक्षण सबसे अधिक काम आया। शुरू में हमने मुर्गियों और गायों की नई प्रजातियां, सब्जियों के नए किस्म के बीज और कुछ नए औजार और नई खादें लोगों में बांटीं, लेकिन धीरे-धीरे हम ग्रामवासी और उसकी समस्याओं को समग्रता में देखना और जब भी आपात आवश्यकता पड़े, उसे हल करने के लिए तैयार रहना सीख गए।

और दूसरे गांव तक अपना संपर्क बढ़ाने के क्रम में हमने पाया कि लोगों का दिल, प्यार और विश्वास जीतने का सबसे आसान तरीका दवा और तीमारदारी है। कुछ महीनों तक हमें एक ऐसे डाक्टर की खोज रही जो हमारे साथ रहे, जो इन सरल और बहुधा आदिम लगने वाले ग्रामीणों को घृणा और अपमान की नजर से न देखे। कुमारी ग्रेचेन ग्रीन एक अमरीकी महिला थीं। उन्हें तीमारदारी और प्राथमिक चिकित्सा का पर्याप्त ज्ञान था। उन्होंने यह अभाव पूरा किया और हमारा पहला दवाखाना खुला। उनकी सेवाएं अमूल्य थीं। उन्हें भी बंगला नहीं आती थी, इसलिए श्रीनिकेतन के दवाखाने में छात्र और गांव में अध्यापक बारी-बारी से उनके लिए अनुवादक की तरह काम करते।

काली मोहन घोष ने देखा कि लोगों का विश्वास जीतने में सस्ती और व्यावहारिक स्वास्थ्य सेवा मजबूत उपादान साबित हो सकती है, लेकिन प्रशिक्षित चिकित्सकीय सहायता न तो हम सीख सकते थे, न किसी को तनख्वाह देने के लिए हमारे पास पैसा था। इसलिए उन्होंने बंगाल की मलेरिया निरोधक को-आपरेटिव सोसाइटी की पद्धति और दृष्टिकोण अपनाया। गांव-गांव में सहकारी ग्राम हेल्थ सोसाइटी खोलने की योजना बनी। अंततः एक गांव के अधिकांश घर इसकी सहायता लेने को राजी हो गए। तब सोसाइटी ने एक आवासी कंपाउंडर को तनख्वाह पर रख लिया और थोड़ी-बहुत मुफ्त दवादारू भी होने लगी।

धीरे-धीरे और गांव भी हमारे कार्यक्रम में रुचि लेने लगे। हरेक गांव के लड़कों को अपने कार्यक्रम में शामिल करने के सरलतम और सस्ते तरीके की खोज शुरू हुई। अध्यापक रखने भर को पैसे तो हमारे पास थे नहीं। हमने सोचा हमारे छात्रों में से किसी को अगर स्काउट लीडर का प्रशिक्षण मिल जाए तो बाडेन पावेल की स्काउटिंग व्यवस्था और उसके नियम गांवों की जरूरत के हिसाब से ढाल लिए जाएंगे। शांतिनिकेतन के धीरानंद राय और मासोजी को ठाकुर ने विशेषतः स्काउट मास्टर का कोर्स करने के लिए संयुक्त प्रांत भेजा। धीरानंद राय ने सृजनात्मक तरीके से उसे गांव की समस्याओं और जरूरतों के अनुरूप ढाल लिया। ग्रामीण व्रती बालकों का पहला दल गठित हुआ। हमारे कुछ छात्र भी स्काउट मास्टर बने। बाद में लड़कियां व्रती बालिकाएं भी बनीं। इन ग्रामीण बच्चों

ने सब्जी उगाना, आग बुझाना, प्राथमिक चिकित्सा करना, नाटक करना, गीत गाना और खेल खेलना सीखा। उन्हें ग्रामीणों को कुकैन भी खिलाने और यह देखने की जिम्मेदारी थी कि 'टिकिया पूरी तरह हलक से उतर गई है।'

विरोध तो थे। दरअसल कई तरफ से तो अचानक विरोध उठ खड़ा होता था। लेकिन धीरे-धीरे हमारा स्टाफ निर्मित हुआ, उनमें दो जापानी—बढ़ई-माली भी थे, और लोगों ने मिलकर काम करना सीखा। समस्याएं फार्म से, गांव से, चिकित्सा केंद्र से, बैंक से आती थीं, फिर उनके संबंध में शोध और सर्वेक्षण किया जाता था, प्राप्त परिणामों से गांव के कार्य या ग्रामीण बच्चों की शिक्षा में मदद की जाती थी। इन्हीं बच्चों में से कई बाद के दिनों में अपने गांव के प्रधान बने।

जल्द ही हमें पता चला कि गांव के पारंपरिक दस्तकार भुखमरी की कगार पर हैं। उनके लिए नई तकनीक की विशेष शिक्षा का प्रबंध करना जरूरी था। उन्हें सहकारी समिति बनाकर कर्ज दिलाने की व्यवस्था करनी होगी। नई डिजाइन में बने सामान की बिक्री और बाजार में उसकी पेशी का काम कौन करेगा? इस मामले में कलाभवन से नंदलाल बोस और उनके कुछ नए कलाकारों ने शुरू से ही हमारी मदद की। मोची, लाख का काम करने वाले, बुनकर, बढ़ई आदि सब सुरुल आने लगे, या तो प्रशिक्षण की गरज से या काम करने। धीरे-धीरे पहले प्रशिक्षण के लिए फिर उत्पादन के लिए कार्यशालाएं बनाई गईं। जैसा कि होता है, बाजार और बेचने की कठिन समस्या बाद के लिए छोड़ दी गई। लेकिन इस काम को करने में हमसे बहुत देर हो गई। इसके बारे में हमारी जानकारी भी क्या थी? हम समझते थे कि चीज अच्छी होगी तो खुद ही बिक जाएगी। हमें क्या पता था कि उपभोक्ता की जरूरत और उसकी प्राथमिकता का अध्ययन कितना महत्वपूर्ण है। हमें उत्पादन की समूची प्रक्रिया में, कच्चे माल के स्रोत से लेकर तैयार माल बन जाने तक, प्रत्येक चरण और प्रत्येक कड़ी को एकदम ठीक रखना भी न आता था।

अपनी दूरदर्शी और बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह के मुताबिक 1923 में ठाकुर ने मुझे वहां से हटा लिया ताकि नवजात संस्थान के भारतीय कार्यकर्तागण अपने पैरों पर खुद खड़ा होने का अवसर पा सकें। इसी दौरान मैं उनके साथ काठियावाड़ और बाद में चीन, जापान, अर्जेंटीना और इटली घूमा। लगातार हम काम के विभिन्न पहलुओं पर बात करते रहे। 1925 में वे मुझे छोड़ने को तैयार हुए ताकि मैं डोरोथी ह्विट्नी स्ट्रेट से शादी करने जा सकूं। डोरोथी सुरुल के काम में शुरू से ही आर्थिक सहायता करती रही थीं। 1947 तक वे यह धर्म निभाती रहीं। नीचे उद्धृत चिट्ठियों से बड़ा कोई प्रमाण मैं इस बात के लिए नहीं दे सकता कि ठाकुर को श्रीनिकेतन के काम से कितना गहरा लगाव था :

13 नवंबर 1922 : 'आप जानते हैं, सुरुल में मेरा दिल बसा है। मुझे लगता है वहां जीवन धड़कता है। वहां अमूर्तन व्यापार नहीं चलता, जीवंत यथार्थ में उसकी जड़ें गहरी धंसी हुई हैं। हमें पूरी तरह विश्वास है कि श्रीनिकेतन सभी तूफानों से पार पा लेगा और इसकी शाखाएं दूर-दूर तक फैलेंगी।'

18 अप्रैल 1923 : 'सुरुल का कार्य सृजन का कार्य है क्योंकि आप किसी ग्रंथ में वर्णित पूर्वनिश्चित पथ का अनुगमन नहीं करते बल्कि अपने सृजनात्मक व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। इससे कठिन स्रोत सामग्री का विरोध भाव भी निर्मिति की संरचना में मददगार साबित हो जाता है।'

25 जून 1924 : 'लगता है, मुझमें एक गहन कल्पना शक्ति है। हमेशा वह अपना ठोस रूप प्राप्त करना चाहती है। यदि विश्वभारती से जुड़े विभिन्न कार्य भविष्य के किसी स्वप्न से आलोकित न होते तो उनमें मेरी कोई जगह न होती। इसी वजह से, श्रीनिकेतन जब अपना रूप प्राप्त करने के लिए संघर्षरत था तो मेरी इच्छा थी कि यह न सिर्फ आकार प्राप्त करे, बल्कि प्रकाशस्तंभ भी बन जाए, ताकि श्रीनिकेतन काल, देश और उद्देश्य विशेष की सीमाओं का अतिक्रमण कर सके। ....हमारा साध्य रोशन मशाल थी, सोने का ठीकरा नहीं।'

21 अक्तूबर 1926 : 'सुरुल में आपकी आत्मा कार्यरत रहेगी। मैं आपको कभी भुला नहीं सकता। आप सिर्फ दोस्त नहीं थे, आपसे साझा सृजन के भागीदार की निकटता थी। अपने जीवन के कैरियर की शुरुआत में ही आप मेरे साथ आ गए, यह मेरा सौभाग्य था। बूढ़े बूढ़े ही होते हैं और जवान जवान। कहते हैं सही जोड़ा मुश्किल से मिलता है, लेकिन मुझे तो मिला .... ।'

10 जुलाई 1930 : 'हमारी आयु समान नहीं थी लेकिन क्षण भर के लिए भी मुझे इस अंतर का अहसास नहीं हुआ। हमारी मित्रता कितनी गहरी और सहज थी। मेरा खयाल है आप एकमात्र आदमी हैं जिसने, जब मैं एक ही समय वृद्ध और युवा दोनों था, उस समय मुझे नजदीक से जाना।'

ग्रामीण बच्चों को नए तरह की शिक्षा की जरूरत है, ठाकुर को इसमें कोई संदेह न था। यह नई शिक्षा अब तक के अनुभवों पर आधारित होनी थी। पहले कभी विली पियर्सन को उन्होंने शांतिनिकेतन के पास के संथाली गांव के बच्चों का एक स्कूल चलाने को प्रोत्साहित किया था। पियर्सन गुजर चुके थे। फिर संतोष मजुमदार को उन्होंने यह कार्यभार सौंपा। सबसे पहले जो बच्चे आए वे या तो अनाथ थे या उनके अभिभावक स्थानीय थे। वे मजुमदार के घर में ही रहते थे, घरेलू या बागबानी की जिम्मेदारियों में हाथ बंटाते थे। ठाकुर के स्कूल में भी आने वाले पहले बच्चे ऐसे ही रहे थे।

ग्रामीण बच्चों के साथ हमारी उपलब्धियों और मजुमदार महाशय के बच्चों को जोड़कर एक आवासीय विद्यालय खोलने का विचार बना। बच्चे वहां हफ्ते भर के लिए जाते। ठाकुर ने उसका नामकरण किया, शिक्षासत्र। श्रीनिकेतन में शिक्षासत्र स्थापित हुआ और अब भी चल रहा है। श्रीनिकेतन ने पड़ोसी गांवों के जिन अभिभावकों का विश्वास अर्जित कर लिया था, मुख्यतः उन्हीं के बच्चों को पहले दाखिला मिलना था। ठाकुर और अन्य अध्यापकों ने ऐसा महसूस किया कि जब तक हफ्ते में पांच दिन बच्चे घर और गांव के रोजमर्रा के कामों से छुट्टी नहीं पाएंगे, उनके संभावित विकास में रुकावटें बनी रहेंगी। ध्यानपूर्वक गांव में बच्चों को परखा गया और उन्हीं को दाखिल किया गया जिनके घरों में महीनों के संपर्क और सहयोग से लोगों का विश्वास हम पर जम चुका था। बच्चे सोमवार को पांच दिनों के लिए जरूरी चावल की बोरी लेकर आते थे और शनिवार को घर लौटते थे।

स्कूल में रिहाइश की जगह, रसोईघर, बागबानी, मुर्गीपालन और डेयरी में बच्चे विभिन्न काम करते थे। वहां उन्होंने खेलकूद, गीत और नाटक, बढ़ईगिरी और दस्तकारी आदि सीखी। उनके गणित और सुलेख के पाठ दैनंदिन जीवन के अनुभव पर आधारित होते थे। इसी प्रशिक्षण के दरम्यान, ग्रामीण बच्चों की जरूरतों के इर्दगिर्द उनकी शिक्षा के संगठन का ठाकुर का विचार पनपा। उन्होंने तो शुरू से ही शिक्षासत्र में बालिकाओं का दाखिला किया होता, लेकिन माता-पिता अपनी लड़कियों से जुदा होने को तैयार न थे। ठाकुर को सर्वावेशी शैक्षिक दृष्टि बिंदु से यदि कोई चीज आवश्यक न लगती तो वे किसी पाठ या शिल्प विशेष को शामिल करने को राजी न होते। बहुधा इस या उस पाठ या शिल्प विशेष को शामिल करने को वे मजबूर होते, तो उसके पीछे किन्हीं भावनात्मक राजनीतिक, सामुदायिक या आर्थिक तुच्छ उद्देश्यों का दबाव ही उनके ऊपर होता। अपनी इच्छा से उन्होंने उन्हें न शामिल किया होता।

16 दिसंबर 1937 को प्राथमिक शिक्षा के बारे में मैंने ठाकुर को एक चिट्ठी में नीचे दी गई बातें लिखीं :

> एकदम रथी की तरह धीरेन ने भारत में प्राथमिक शिक्षा के महत्व पर मुझसे बात की। वे चाहते हैं इसके लिए अध्यापकों का गंभीर प्रशिक्षण हो। उनका विचार है कि शांतिनिकेतन पास है ही, इसलिए श्रीनिकेतन और नए प्रशिक्षण स्कूल में यह व्यवस्था हो सकती है। वे सोचते हैं, आपको नई और पुरानी सरकारों के बीच स्वतंत्र आधारभूमि उपलब्ध है। भारत में यह आधारभूमि किसी और को प्राप्त नहीं है। वे गुरुप्रशिक्षण स्कूल, शिक्षासत्र और श्रीनिकेतन के ही काम में अपने आपको लगा देना चाहते हैं।

19 दिसंबर 1937 को ठाकुर का पत्र मिला :

'आपको तो पता है श्रीनिकेतन में शिक्षा का एक आदर्श केंद्र खोलने की आशा मैंने कितने लंबे समय से संजोई हुई है। यह केंद्र संकीर्ण ग्रामीण वातावरण के मानदंडों से शासित नहीं होगा, अकाल के समय बंटने वाली खैरात की तरह नहीं होगा जो क्षीणकाय जीवन और बौनी मानसिकता की जरूरत के मुताबिक ही बांटी जाती है। यह तथ्य सर्वविदित है कि हमारे देश में मौजूद शिक्षा का क्षेत्र विस्तार अत्यल्प है, और तो और, उसका बांझपन ही उसकी गुणवत्ता है। दुर्भाग्यवश यही हमें उपलब्ध है, और जिसे दंभपूर्वक सम्मान्य घोषित किया जाता है, वे सब मानदंड बनावटी हैं। भद्रलोक इसी के लिए मरा जा रहा है कि उसके नाम पर विश्वविद्यालय खुल जाएं। इसके बाहर जो विशाल जनगण है उसके लिए इस तरह की चाहत औकात से बाहर है। हमारे लिए सबसे बेहतर यही लोग हैं, यदि उन्हें समायोजित करना हमें आए। इन्हीं लोगों के बल पर हम स्वतंत्रतापूर्वक अपने देश को एक सर्वावेशी संस्कृति प्रदान कर सकते हैं। यह संस्कृति शासकीय आदेशों से क्षतविक्षत न होगी। आम तौर पर मैंने देखा है कि दया से भरे शहरी नस्ल के राजनेता जब ग्रामीण शिक्षा की बात करते हैं तो ऐसा लगता है जैसे शिक्षा न हुई उनके कप की पेंदी में बचा हुआ माल हुआ, वह भी जी भरकर पानी मिलाया हुआ। इस बात की उन्हें फिक्र ही नहीं कि मानसिक विकास के लिए जिस गुण और मात्रा की खुराक चाहिए, उसका वितरण प्राप्तकर्ता के असमान सामाजिक स्तर के अनुसार असमान नहीं होता।

'इसीलिए मुझे इसकी अधिक उत्सुकता है कि शिक्षासत्र अपने आदर्श को सिद्ध करे, श्रीनिकेतन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम बन जाए, सभी अंशों से परिपूर्ण मानवीयता हासिल करने में छात्रों की मदद करे। प्रयोग और पहल के साहस की हमारे देश में कमी है। लोगों को एक वास्तविक वैज्ञानिक प्रशिक्षण चाहिए जो उनमें यह साहस पैदा करे। श्रीनिकेतन को छात्रों को तार्किक चिंतन और व्यवहार का माहौल उपलब्ध कराने की क्षमता हासिल करनी चाहिए। केवल यही उन्हें मूर्खतापूर्ण धर्मांधता और नैतिक कायरता से बचा सकता है। स्वयं मैं शिक्षासत्र की शैक्षिक संभावनाओं को शांतिनिकेतन के स्कूल और कालेज से अधिक महत्व देता हूं। शांतिनिकेतन तो दिनानुदिन देश के दूसरे स्कूल-कालेजों की तरह होता जा रहा है, ऐसे उधारी पिंजरे की तरह होता जा रहा है जो छात्रों के दिमाग को चिड़ियों की तरह पकड़कर बंद कर ले। ऐसी जगहों पर समूचे मानवीय मूल्य की परीक्षा इस बात से होती है कि इस देश की मिट्टी से पूरी तरह अनभिज्ञ शैक्षिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित पाठों को यांत्रिक तरीके से कितना रट लिया गया है। अगर मेरे सपनों को पूरा करने में श्रीनिकेतन अपनी संभावनाओं का उपयोग कर सके तो मुझे खुशी होगी।

मुझे अच्छा ही लगेगा अगर धीरेन अपने उत्साह से शिक्षासत्र को पूर्णकाम साहस की नई ऊंचाइयों तक पहुंचा सकें। इसमें न सिर्फ मेरा आशीर्वाद उनके साथ रहेगा, बल्कि जीवन के इस अंतिम क्षण में जिस हद तक मुझसे संभव होगा, मेरा मार्गदर्शन भी उन्हें प्राप्त होगा।'

21 दिसंबर 1937 को ठाकुर ने लिखा :

> आपको ज्ञात है, खामोश और समग्रतापूर्ण चिंतन और व्यवहार के रास्ते से होकर मैं गुजरता हूं, मेरी इकाइयां कम या छोटी हो सकती हैं लेकिन किसी मानवीय समस्या को मैं किसी मूलभूत गांव या संस्कृति से जोड़कर देखता हूं। इसीलिए विश्वव्यापी पीड़ा के बीच भी, तीस करोड़ लोगों की घूरती हुई समस्याओं के बीच भी, शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन के काम से मैं चिपका हुआ हूं। मुझे आशा है कि हमारे प्रयास ग्रामीण भाइयों के दिल छू सकेंगे और नई सामाजिक व्यवस्था में उनकी नई दावेदारी में मददगार होंगे। अगर कुछ गांवों में भी हम सफल हो गए तो वे संभवतः दूसरों के लिए प्रेरणास्रोत बन जाएंगे, और मेरा जीवन कृतकार्य होगा।

शिक्षासत्र के शुरुआती छात्रों में से कई आज अपने गांवों के मान्य नेता हैं।

जैसे-जैसे समस्याओं की हमारी पहचान बढ़ी, उसी मात्रा में विशेषज्ञों की मदद और सलाह की जरूरत भी बढ़ती गई। शुरू में ही हमने अपने प्रायोगिक फार्म के मैनेजर की जगह संतोष बोस को रखा और स्टाफ में एक आदमी बढ़ा। डेयरी फार्म संतोष मित्र देखते थे, शांतिनिकेतन के पुराने छात्र थे, कलाकार भी थे। सर्वेयर उपेन बाबू थे। जो पहले छात्र आए, एक बटा दस एकड़ बगीचे की ज़मीन पर उनके घर बनाने और पुआल के छप्पर छाने की कला सीखने में उन्होंने उनकी मदद की। सरकार द्वारा प्रशिक्षित विशेषज्ञों ने ग्रामीण चर्मकारों को चमड़े का काम सिखाया, हमारे छात्रों को चमड़ा सुखाने और चमड़े के और कामों की आधुनिक शिक्षा दी, दरी बनाना और बुनकरी सिखाई। अमरीकी वैद्य डाक्टर हैरी टिंबर्स ने मलेरिया के मच्छरों के जीवन-चक्र, उनकी आदतों और उनकी रोकथाम के क्षेत्र में बुनियादी शोध संचालित किए। उन दिनों डी.डी.टी. नहीं था लेकिन सुनियोजित अभियान के चलते साल-दर-साल मलेरिया के रोगी कम होते गए। उसके बाद मिट्टी के क्षरण को रोकने, वृक्षारोपण और ईंधन और लकड़ी की जरूरत के तहत उपयोगी वृक्षों की बकरियों और मवेशियों से सुरक्षा संबंधी अध्ययन शुरू हुए।

ऐच्छिक सहकारिता, बिना पैसा दिए, सीधे-सादे तरीके से विकसित करना टेढ़ी खीर साबित हुआ। हमारे आने से पहले ही सहकारिता ऋण या धन योजनाओं में लोगों का

विश्वास काफी कुछ नष्ट हो चुका था। इसलिए आपसी विश्वास को इस हद तक पहुंचने में काफी समय लगा कि हेल्थ सोसाइटी या गांव भर के लिए कीट सुरक्षित चावल स्टोर या फिर खरीद-बिक्री सहकारी संगठन जैसे साझा उद्देश्यों के लिए धन इकट्ठा किया जा सके और फिर उसे खर्च किया जा सके।

कभी किसी समस्या को बुनियादी या प्रारंभिक शोध, सर्वे या जांच-पड़ताल के अभाव के चलते भी तुरंत हल नहीं किया जा सका। उदाहरण के लिए, मत्स्यपालन। भोजन में प्रोटीन का भारी अभाव था। हरेक गांव में छूटे-छटके पोखर-तालाब थे। क्यों न इसका सर्वे कर वैज्ञानिक उपायों से एक सहकारी कार्य की तरह मत्स्यपालन किया जाए? एक गांव में एक को छोड़कर सभी मालिकान इसके लिए तैयार हो गए। यही पद्धति कुशल देखरेख में बड़े इलाके में विस्तारित की जा सकती थी। लेकिन सरकार द्वारा नियुक्त जो स्थानीय मत्स्यपालन अधिकारी महोदय थे, उन्हें यात्रा भत्ता नहीं मिलता था। वे अपनी मेज से कहीं हटते नहीं थे। वहीं बैठे-बैठे फार्म भरकर और अनंत कागजी योजनाएं बनाकर मुख्यालय भेजते रहते थे। वे योजनाएं कभी लागू नहीं हुईं।

हमारा सिद्धांत था, लड़के और लड़कियों को इस तरह प्रशिक्षित करना कि उनके अभिभावकों का ऐच्छिक सहयोग हमें प्राप्त हो। इसी के साथ हमने एक गांव में एक घर या एक बाग, एक इलाके में एक फार्म या एक पूरे जिले में एक गांव को चुनकर उसके आदर्श प्रदर्शन के सिद्धांत का महत्व भी जाना। तब थोड़ी सी बाहरी मदद से ग्रामीण जन भी इन स्थानीय प्रदर्शनों की नकल कर सकते थे। यह तरीका फार्म या प्लाट के राज्य, जिला या सरकारी प्रदर्शन से बेहतर, तीव्र असरकारी और सस्ता था। अपने फार्म पर जब हम प्रयोग करते हैं तो उसकी आलोचना संभव है यह कह कर की जा सकती है कि हमने बहुत ज्यादा साधन लगाए, या कि वातावरण भिन्न होना चाहिए था। प्रयोग के लिए फार्म अपना होना महत्वपूर्ण है, लेकिन प्रदर्शन के लिए यह बहुत उपयोगी नहीं होता।

एक गांव में एक आदमी अपने फार्म पर बोलपुर बाजार में लोकप्रिय सब्जी की एक नई प्रजाति उगाने को तैयार हुआ। उसे हमने पौधे दिए और जरूरी निर्देश भी दिए। कटाई के समय पहुंचे तो कोई सकारात्मक नतीजा नहीं हासिल हुआ। गांव वालों ने कहा, 'आखिर आपने उसको चुना ही क्यों? ये सज्जन जो भी नया हो, करने को तैयार तो रहते हैं, लेकिन सफल आज तक नहीं हुए। अगर आपने हमारे गांव के सबसे अच्छे किसान, फलां, को चुना होता तो आपको भिन्न और सकारात्मक नतीजे हासिल होते।'

छोटे इलाकों और कुछ गांवों में बेहतर नतीजे मिले। आर्थिक लाभ इस कदर हुआ कि इलाके में जीवन स्तर में सुधार दिखलाई पड़ता था। उन गांव वालों में नया विश्वास

जाग्रत हुआ। उन्हें महसूस हुआ कि नई चीजों पर महारत हासिल करने की क्षमता उनमें है। उन्होंने नैराश्य पर विजय पाई और अच्छे नतीजे भी हासिल किए। लेकिन कई बार समस्याएं हमें चकरा देती थीं। एक तरफ तो, वैज्ञानिक, आर्थिक या समाजशास्त्रीय, किसी भी विश्वविद्यालयी शोध का भारी अभाव था। दूसरी तरफ, गांव स्तर पर हमारे और सरकारी अधिकारियों या अधिकारियों और ग्रामीणों के बीच कोई नजदीकी रिश्ता नहीं था। इनको बढ़ाए बिना और विस्तृत इलाकों में हमारा विस्तार नहीं हो सकता था। हम खुद इन्हें हल कर सकें, इसके लिए हमारे पास न अपेक्षित साधन थे, न आदमी। जब भी आधे मन से हमने प्रयास किए, हमें और गांव वालों, दोनों को निराशा हाथ लगी।

ठाकुर हमेशा चाहते थे कि पहले कुछ गांवों का विश्वास जीतकर बुनियादी सिद्धांतों को अमल में लाया जाए। एक बार जहां गांव वालों ने देखा कि वे अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं, जहां विकास की अपनी शक्ति में उनका विश्वास दृढ़ हुआ, वे तुरंत यह बताने के काबिल हो गए कि उन्हें ठीक-ठीक कब प्रशिक्षित मार्गदर्शन चाहिए, हालांकि कई बार यह मार्गदर्शन हम उन्हें उपलब्ध नहीं करा पाते थे।

दिक्कत बहुधा यह खड़ी होती थी कि प्रशिक्षित मार्गदर्शन कहीं से भी उपलब्ध नहीं हो पाता, बुनियादी शोध नहीं किया गया होता, शोध के परिणामों को लागू करने के लिए आगामी प्रयोग न किए गए होते। अधिक प्रशिक्षित महिलाओं और पुरुषों की आवश्यकता होती, जब मिलते भी तो वे बाजार दर पर तनख्वाह की मांग करते। ठाकुर का विश्वविद्यालय तनख्वाह में इतना खर्च नहीं कर सकता था। कभी-कभी कम तनख्वाह पर काम कर रहे उनके शिक्षक यह नहीं समझ पाते कि आखिर इतने प्रशिक्षित विशेषज्ञों की जरूरत क्या है, और मिल जाने पर आखिर उन्हें विश्वभारती से अधिक तनख्वाह क्यों दी जाए। बार-बार कोई सस्ता समझौता करने की कोशिश की जाती, लेकिन कभी यह प्रयोग सफल नहीं हुआ।

दूसरी बड़ी दिक्कत थी कि 1920 के बाद अंग्रेजों की सरकारी मशीनरी यांत्रिक ढंग से, रोजमर्रा के ढर्रे पर काम करने लगी। कागजी खानापुरी अधिक होने लगी। सरकार को ग्रामीण विकास में हिस्सेदारी करनी चाहिए, ग्रामीण कल्याण के प्रति जवाबदेह होना चाहिए, यह विचार अभी नया था और सरकारी कार्यालयों में इसे स्वीकृति नहीं प्राप्त हुई थी। हमने कई ऐसी समस्याएं पकड़ीं, जिन्हें हल करने में अधिकारियों की मदद की जरूरत थी। उन्हें गांव के लोगों के साथ बैठने का कुछ भी अनुभव नहीं था ताकि समस्याओं की जड़ पकड़ी जा सके, जो कि यह काम भी जरूरी है। लेकिन मालगुजारी की वसूली और न्यायिक प्रशासन में उनकी थोड़ी ज्यादा ही ऊर्जा खर्च होती थी।

वर्षों से बंद दीवारों में काम करने वाले विश्वविद्यालय भी बाहर निकलकर सीधे फील्ड

स्टडी की मांग करते हैं या उनमें भी अध्ययन के लिए उनके सीधे नियंत्रण के बाहर के गांवों से संपर्क की जरूरत पड़ती है। ठाकुर ने कहा कि रास्ते में एक पड़ाव, एक तरह के ग्रामीण संस्थान की जरूरत है। किसी विश्वविद्यालय से यह संबद्ध हो सकता है, लेकिन उसके संपूर्ण अकादमिक नियंत्रण में न रहे, गांवों का नजदीकी स्पर्श इसे प्राप्त हो। सभी आवश्यक सरकारी उपक्रमों से इसका नाता हो, लेकिन शासकीय सेवा की मशीनरी के अंक के बतौर यह कार्य न करे।

मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि ठाकुर का प्रभाव किस तरह श्रीनिकेतन की समूची परियोजना को प्रेरणा प्रदान करता था और इसमें समाया हुआ था। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि इस अल्प वय संस्थान की रोज-ब-रोज की समस्याओं में उनकी दखलंदाजी थी। लगातार वे यह हमें याद दिलाते रहते थे कि हमारी व्यावहारिक उपलब्धियां, हमारा शुद्ध दूध, हमारे ताजे अंडे, हमारी विकासमान सहकारिता, सभी उपयोगी साधन हैं, लेकिन ये साधन भर हैं, किसी और ऊंचे लक्ष्य की प्राप्ति के साधन। शुरू में ही शांतिनिकेतन में उन्होंने हमसे अनुरोध किया कि अपने सभी संसाधनों का इस्तेमाल हम संगीत, गीत, नाटक, नृत्य, चित्रकला और रेखांकन में करें ताकि हमारा जीवन समृद्ध हो, आकांक्षाएं मूर्तिमान हों, अवकाश में प्रेरणा आए और आनंद सभी प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्तियों में मुखर हो उठे। इसी तरह हम और कृषक समुदाय अपने सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध और ऐश्वर्यशाली बना सकेंगे, जो प्राचीन कला रूप आसपास के गांवों में विरल हो रहे हैं, वे पुनः जीवन प्राप्त कर सकेंगे।

उपसंहारस्वरूप, मैं उनके 2 जून 1940 को मुझे लिखे अंतिम पत्र से एक उद्धरण देना चाहूंगा : 'मुझे अब भी वे दिन याद आते हैं जब हम दोनों ने साथ-साथ बड़े समंदर पार किए, अनजाने लोगों के दिलों में गरमाहट पाई।... संकीर्ण राष्ट्रवाद के नाश के जरिए अपनी आत्मा को पुनः प्राप्त करने में इतिहास को दीर्घ समय लगा। मानवता को अब तक की अछूती ऊंचाइयों को छूने के लिए नए उपकरणों की आवश्यकता है।' निम्नांकित शब्दों में उनका विश्वास ठीक-ठीक अभिव्यक्त हो उठा है : अब मैं उस आयु को आ पहुंचा हूं कि जीवनदायी मित्रता पर, निरंतर त्याग से जिसमें आनंद बढ़े, उस प्रेम और सहकार की भावना पर मेरा विश्वास सपनों में ही सुरक्षित है। राष्ट्र जब विश्वास से छल करते हैं, नष्ट हो जाते हैं, मर जाते हैं, लेकिन मनुष्य अमर है।'

3. शिक्षासत्र

एल.के. एमहर्स्ट

शिक्षासत्र कुछेक वर्षों के शांतिनिकेतनी शैक्षिक प्रयोगों और श्रीनिकेतन स्थित ग्रामीण पुनर्निर्माण संस्थान के दोसाला अनुभव का स्वाभाविक परिणाम था। अतीत की असफलताओं और सफलताओं से सहज बुद्धि से जो सीखा जा सकता था, उन्हीं सिद्धांतों पर यह आधारित था।

बच्चों की खूबसूरती मुख्यतः उनकी सहजता, विकास की उनकी क्षमता और खास तरह के देहाती-खुलेपन में निहित होती है। परंपरा के बंधनों से वे मुक्त होते हैं और मुख्यतः आंतरिक संवेगों से संचालित होते हैं। इसीलिए जीवन के विस्तृत मैदान में अपना रास्ता वे खुद खोजते हैं, भरपूर आनंद के साथ अपने अनुभव से ज्ञान प्राप्त करते हैं। बाद में तो यह आनंद सूख जाता है।

घरेलू जानवरों के बच्चों में यही निर्द्वंद्व उल्लास सरलतम रूप में दिखाई पड़ता है। जिंदगी को खेल और दुनिया को परियों का देश समझने की क्षमता उनमें होती है। बिल्ली के छौनों के लिए जो कुछ भी गतिमान है, वह संभवतः चुहिया है। कुत्ते के बच्चे के लिए घर का कोई भी सामान अगर छूने में चूहे की तरह मुलायम है तो वह उसके पीछे परेशान रहेगा। उनमें कोई आंतरिक चालक शक्ति, निश्चित दिशा में विकास की कोई प्रवृत्ति विद्यमान होती है। वे लगातार आत्मरक्षा से प्रेरित होकर कष्टसाध्य अनुभव बटोरते रहते हैं। इसी के साथ उनकी जीवनी शक्ति भी छलकती रहती है। यह सब कुछ बुजुर्गों को उनका बचपना भरा खेल लगता है।

विकासमान पौधे में भी जब बीज ऊपर की ओर उत्साहपूर्वक पौधा फेंकता है तो यही उल्लास दिखाई पड़ता है। बीज के ठीक ऊपरी सिरे में जीवन की बाढ़ सिमटी होती है। उस कोमल नोक पर कोशिका पर कोशिका तेजी से इकट्ठी होती जाती है जब तक मूल बीज के भीतर समाया कुछ भी आहार बचा रहता है। जब भोजन खत्म हो जाता है तब वह नोक प्राकृतिक ढंग से अपना रास्ता तलाश कर खुली हवा में आ विराजती है। इस पहली बाढ़ के साथ कोई दुर्घटना हो गई या कोई गंभीर नुकसान हो गया तो भविष्य के वृक्ष के लिए यह गंभीर विपत्ति होगी। हो सकता है, दूसरी शाखाएं निकल

आएं, पहली बाढ़ की जगह ले लें, लेकिन एक चालक शक्ति, जीवन और संवृद्धि की खोज की आंतरिक इच्छा तो चली ही जाती है।

मानव शिशु में भी यही गुण होता है। इसीलिए छोटे पौधे या जानवर के बच्चे की तरह आदमी के बच्चे के छुटपन में ही अप्राकृतिक दमन के जरिए उसके व्यक्तित्व को स्थायी क्षति पहुंचाना कोई मुश्किल काम नहीं। बचपन में खेल का समय निरर्थक नहीं होता। कठिन भविष्य की मांगों से वह गहरे जुड़ा होता है। अलग बात है कि कुछ दिनों तक आत्मरक्षा की चिंताएं माता-पिता को करनी होती हैं।

अपने बच्चों के संबंध में यह बात भूल जाना हमारी प्रवृत्ति है। बच्चों को अक्सर हम खिलौनों की दुनिया सौंपते हैं। कल्पना में भी यह याद नहीं रखते कि खिलौनों की दुनिया चाहे कितनी ही जीवंत क्यों न हो, मुख्यतः बड़े लोगों की दुनिया है। हम ऐसा सोचते हैं कि हमें बचपन में खेलने को यह मिलता तो अच्छा होता। लेकिन याद करिए कि अपने छिपने के लिए जमीन में खोह बनाना, जिससे मालियों को बड़ी विरक्ति होती, सचमुच की कुल्हाड़ी से लकड़ियां काटना, जूते में पालिश लगाना, आग जलाना, आटा सानना या रोटी सेंकना इत्यादि कामों में ही हमें सबसे अधिक खुशी मिलती थी। वह तो इनके न मिलने पर अक्सर हमें झूठमूठ की ईंटों, खिलौनाघरों, खेलने के औजारों या खिलौनों वाली रसोई पर संतोष करना पड़ता। अगर कभी गंभीर काम मिलता भी तो वह मेहनत का होता। हम थक जाते और हमारे सृजनात्मक संवेगों को कोई खुशी हासिल न होती।

इसीलिए बचपन के इस उच्छल प्राचुर्य, इस खूबसूरती, इस सादगी के साथ अनुभव से सीखते हुए कार्य करने में शिक्षासत्र का उद्देश्य है सृजनात्मक संभावनाओं से भरे वातावरण में बच्चों को अधिकतम स्वच्छंदता उपलब्ध कराना, उन्हें खेल की खुशी प्राप्त करने के अवसर देना, खेल जो कार्य है, कार्य जो खोज है, कार्य जो खेल है, जैसे कि नवप्राप्त अनुभव का पुनः पुनः अनुकरण। उसका उद्देश्य है, बच्चों को वृद्धि की वही स्वतंत्रता प्रदान करना जिसकी जरूरत नवजात पौधे की मुलायम नोक को होती है, आत्मविस्तार के लिए खुला मैदान देना जिसमें सब तरह का नवजीवन प्रशिक्षण और आनंद, दोनों प्राप्त करता है।

छह से बारह वर्ष की आयु के बीच ही विकासमान बालक देखने, सूंघने, सुनने और चखने और सबसे आगे बढ़कर छूने और हाथों के प्रयोग के जरिए विभिन्न प्रभाव अर्जित करता है। इसीलिए शिक्षासत्र में शुरू से ही बच्चा हस्तशिल्प और गृहशिल्प में प्रशिक्षु की तरह दाखिल होता है। कार्यशाला में प्रशिक्षित उत्पादक और संभावित सर्जक के रूप में वह हाथों की दक्षता और स्वतंत्रता प्राप्त करेगा। अपनी रिहाइश बनाने, उसे सजाने

और साफ-सुथरा रखने के काम में वह शामिल रहता है अतः उसमें रहते हुए वह मानव समुदाय के नागरिक की तरह आत्मा का विस्तार और आत्मनिर्भरता अर्जित करता है।

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक हद तक अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद ही बच्चा उनके समायोजन की जरूरत महसूस करता है। तब इंद्रिय संवेदन से प्राप्त आविष्कारों को लिख लेने, उनमें संबंध स्थापित करने, उनको मूर्त करने और उन्हें संयोजित करने का समय आता है। जब तक बच्चा वस्तुगत जीवन की मांगों और तथ्यों के निकट संपर्क में न रहा हो, तब तक उससे किसी और जरिए से प्राप्त तथ्यों और धारणाओं पर घंटों ध्यान केंद्रित करने की मांग निश्चय ही अनुचित है। वास्तविक जीवन में बच्चे की अभी जिन चीजों से मुठभेड़ हुई है या जो उसने देखा है, उससे ये तथ्य और धारणाएं पूरी तरह असंबद्ध होती हैं।

फिलीपींस के द्वीपों में कोई फार्म स्कूल है जहां तीन सौ छोटे बच्चे अपने छोटे-छोटे खेतों में काम करते हैं। अपने घर बनाते हैं, अपना खाताबही दुरुस्त रखते हैं, अपना नगर निकाय चलाते हैं, अपनी आजीविका इकट्ठी करते हैं और अपना मुनाफा अपने पास रखते हैं। वहां के प्रिंसिपल का कहना है, 'हमारी तो सारी कक्षाएं अर्जित अनुभवों की गोलमेज बहस के रूप में चलती हैं। इसका एकमात्र अपवाद अंग्रेजी है। चूंकि हम अंग्रेजी का मानक पाठ्यक्रम पढ़ाते हैं जिसका बच्चों के जीवन से कोई रिश्ता नहीं, इसलिए अंग्रेजी की कक्षाओं में जीवन नहीं होता। अंग्रेजी में बच्चों की रुचि जगाने में मैं असफल रहा हूं।' गृहशिल्प के तहत निम्नलिखित कार्य प्राथमिक शैक्षिक महत्व के होंगे :

कमरों की देखभाल, सफाई और निर्माण।
शौचालय की देखभाल और उचित प्रयोग, पाखाने की सफाई।
खाना पकाना और परोसना, कपड़े धोना और फटे कपड़े सिलना।
व्यक्तिगत स्वास्थ्य विज्ञान और स्वास्थ्यकर आदतें।
वैयक्तिक आत्मानुशासन, सामुदायिक स्वशासन।
जन सुरक्षा और तीमारदारी, अग्निशमन और आग पर नियंत्रण।

इनमें से प्रत्येक कार्य के लिए किसी न किसी कला पर महारत हासिल करना, किसी व्यावसायिक या सांगठनिक क्षमता को विकसित करना, विज्ञान के किसी नियम का अनुपालन आवश्यक है। सबको मिलाकर देखें तो इन कार्यों में व्यक्तिगत आत्मरक्षा के साथ पारिवारिक या सामुदायिक कर्तव्यों, जिम्मेदारियों और विशेषाधिकारों की प्रतिष्ठा है।

गृहशिल्प के तहत जो काम हैं, उनमें से अधिकतर हस्तशिल्प की प्रकृति के हैं।

इरादा यह है कि शुरू से ही बच्चे के छोटे हाथों के अनुकूल किसी विशेष कार्य में उसे दक्ष बनाया जाए। इस काम से उसे आर्थिक लाभ भी होना चाहिए। उत्पाद या तो घरेलू उपयोग का हो या तुरंत बाजार में बिकने लायक। इस प्रक्रिया में बच्चा आत्मरक्षा की अपनी क्षमता को अपने हाथों के कुशल अनुभव के जरिए मूर्तिमान कर सकता है।

निम्नलिखित में से किसी भी काम को बच्चे द्वारा कुछेक हफ्तों में आसानी से सीखा जा सकता है :

रूई की बत्ती, लच्छी और धागा बनाना, स्कार्फ बुनना और बेल्ट बनाना, कालीन और दरी बनाना (बांस से लड़के करघा भी खुद ही बना सकते हैं)।
पटसन की चप्पल बनाना। सन की दरी और पुआल भरे गद्दे बनाना।
सिलाई, कागज बनाना, स्याही बनाना।
साधारण वनस्पतियों के रंगों से रंगरेजी (कपड़े रंगने का काम), सादा सूती कपड़ों पर लकड़ी के ब्लाक से छपाई।
धूप में सुखाकर मिट्टी की ईंटे बनाना।

बड़े लड़के-लड़कियों के लिए निम्नलिखित कार्य ठीक होंगे :

ऊन का काम, कपड़े की कटाई, धुलाई, गत्ते का काम, रंगरेजी, मोटे कंबल बुनना, बुनाई, रफू करना।
मिट्टी के बरतन बनाना, बढ़ईगिरी और नक्काशी, लुहारगिरी और औजार बनाना।
धूप में सुखाई ईंटों से घर बनाना, बेंत और मिट्टी से घर बनाना, बांस से घर बनाना, झोंपड़ी डालना।
सिलाई और सिलाई मशीन का उपयोग।
हाथ घड़ी और दीवाल घड़ी बनाना।
साइकिल साफ करना और उसकी मरम्मत।
छपाई के ब्लाक बनाना, छापे के अक्षर सेट करना, छपाई, टंकण और प्रतिलिपि बनाना।
संगीत के वाद्य बनाना : ढोलक, बांसुरी और इकतारा बनाना।
खाना बनाना, गेहूं और अनाज पीसना, तेल निकालना, सूत निकालना, साबुन बनाना।

इनमें से भी प्रत्येक काम को करने में कोई कला, कोई विज्ञान, कोई व्यावसायिक तत्व शामिल होगा। इनमें से कोई भी शिल्प सिद्ध हो जाने पर आत्मरक्षा की खड़ी चढ़ाई चढ़ने का सुगम मार्ग बता देगा, बच्चे में भविष्य में आर्थिक स्थिरता हासिल करने का माद्दा

पैदा करेगा, अपनी सक्षमता में उसका आत्मविश्वास बढ़ाएगा। जीवन का संपूर्ण आनंद आत्मा की स्वतंत्रता पर आश्रित है। प्रशिक्षित उंगलियों और हाथों की कुशलता से कठिन जीवन संघर्ष को झेल ले जाने की शक्ति में विश्वास के बगैर आत्मा की उस स्वतंत्रता को प्राप्त करना असंभव है।

उपरोक्त शिल्पों में कुछ ऐसे हैं जिनका देहाती जीवन से उतना निकट संबंध नहीं। इनमें से प्रत्येक शिल्प को सीखने में दक्षता का एक पूर्वापर व्याकरण सीखना होगा। यह व्याकरण जीवन से विच्छिन्न नहीं। इसे सीखने में शुरू में प्रयोग, गलती और असफलता की कटुता के मार्ग से गुजरना ही होगा। किसी कुशल हस्तशिल्प के आखिरी उत्पाद के पीछे ढांचों की सूखी हड्डियां लगी होती हैं। अक्सरहां, खासकर किसी कक्षा में, जिस माहौल में वह पैदा हुआ है उस माहौल सहित मूल उत्पाद को भुला दिया जाता है और तब ये सूखी हड्डियां ही बची रह जाती हैं।

सभी कार्यशालाओं में से प्रकृति की कार्यशाला सर्वाधिक विस्तृत और मददगार कार्यशाला है। कुशल प्रेरणा और निर्देशन के मातहत बाहर जीवन की अनंत प्रयोगशाला अनुभव और प्रयोग के लिए खुली हुई हैं। इस मामले में स्कूल मास्टर ध्वंसावशेष मात्र है। यहां आकर अपने व्याख्यान मंच पर खड़ा होकर वह छात्रों की अगुआई नहीं करता। यहां छात्रों को अंकपत्र और सनद देने या रोक लेने की ताकत से धमकाना बेकार है। वह छात्रों के पीछे अपनी उचित जगह चुनने को मजबूर है। वह घड़ी दिखा सकता है, सलाह दे सकता है, प्रेरणा प्रदान कर सकता है, खुद छात्र बन सकता है लेकिन रास्ते में छाती अड़ाकर खड़ा नहीं हो सकता। प्रकृति स्वयं सर्वोत्तम शिक्षक है और छात्र के अवलोकन की क्षमता और शक्ति के मुताबिक उसे वरदान देती चलती है। यहां जब छात्र असफल होता है तो अध्यापक भी असफल होता है। यहां छात्र की असफलता का दोष उसकी अंतर्निहित अक्षमता के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता।

बहिर्जगत के निम्नलिखित शिल्प छोटे बच्चे आसानी से सीख और इस्तेमाल कर सकते हैं। इनसे आर्थिक फायदा होगा, बच्चों का जीवन से निकट संपर्क बना रहेगा और इन शिल्पों का पारिवारिक और सामुदायिक जीवन में उपयोग भी किया जा सकता है :

मुर्गी पालन, अंडा सेने के लिए मुर्गी बैठाना।
ईंधन की देखभाल और जल प्रदायन।
बीज सुरक्षित रखना, खाद डालना और वृक्षारोपण।
फूल और सब्जी की खेती।
जल निकासी और सिंचाई, लकड़ी काटना और जंगल की सफाई।

जैसे-जैसे बच्चे की क्षमता बढ़ने लगती है, उसका अनुभव विस्तृत होने लगता है, तब बच्चे को स्वभावतः अपने शिल्प का ऊंचा व्याकरण सीखने की जरूरत पड़ती है ताकि उसका अवलोकन और अधिक सटीक हो, उसका अनुमान और सही हो, उसका ज्ञान अधिक फलप्रद हो। इसी समय उसे अपने ही जैसे खेतों पर काम करने वाले सहकर्मियों के विचारों और अनुभवों से संपर्क की इच्छा होती है जिनके संघर्ष और दृष्टिकोण किताबों में लिखे जाते हैं। इस मामले में किताबों के पीछे आंख मूंदकर चलना लाभदायक नहीं होता, बल्कि अपने सहकर्मी और मित्र ही मानवीय ज्ञान के नवीन और विस्तृत क्षेत्रों की सैर कराते हैं।

भारत में ग्रामीण बालक पहले से ही गाय चराना, उसके दानापानी जैसे पारिवारिक कर्तव्यों और सुविधाओं में भाग लेने का आदी होता है। उसके घर की चहारदीवारी के भीतर ही अगर ठीक-ठाक छोटा सा बगीचा भी हो तो इससे अनुभव के जरिए बेहतरीन और विस्तृत शिक्षा का आधार मिल जाता है। इसीलिए शिक्षासत्र में सबके पास जमीन का एक टुकड़ा होगा। वही बालक बालिकाओं, दोनों के लिए अध्ययन, लेखन और गणित का सबसे बड़ा आधार होगा।

शुरू से ही बच्चों को यह महसूस करना चाहिए कि जमीन का यह टुकड़ा उनके खेल का मैदान और प्रयोगशाला, दोनों है। वहीं वे अपने प्रयोग संचालित करेंगे और किसी निश्चित लाभकारी फसल की बुआई, देखभाल और कटाई का काम करेंगे। इस व्यवस्था में पाठ्य पुस्तक कक्षा का कमरा और प्रयोगशाला अपनी तय जगह से हट जाते हैं। अब विद्यार्थी के पास जमीन का टुकड़ा, शेड और कार्यशाला हैं। बहीखाता दुरुस्त रखा जाएगा, रपट और आयव्यय का विवरण लिखा, देखा और सुधारा जाएगा। इसमें अत्यंत रुचिकर ढंग से *साहित्यिक प्रशिक्षण* होगा। जमीन की उत्पादकता का अध्ययन *भू-विज्ञान* होगा। चूना और विभिन्न प्रकार की खादों, छिड़काव और कीटनाशकों का प्रयोग *रसायनविज्ञान* होगा। औजारों, पंपों, जमीन से पानी निकालना और तेलचालित इंजनों का प्रयोग *भौतिकी* होगा। पौधों पर लगने वाले कीड़ों (चींटी, सूंड़ी, कृमि) और बीमारियों (पत्तियों का ऐंठ जाना, मुरझाना या बैक्टीरिया के आक्रमण) की रोकथाम *कीटविज्ञान* होगा। चिड़ियों और बगीचों और फिर सारी दुनिया से उनके संबंधों का अध्ययन *पक्षीविज्ञान* होगा।

शिक्षासत्र में प्रकृति-अध्ययन जीवन से कटा कोई अमूर्त विषय न होगा, न ही शहरों में स्थित शिक्षाबोर्डों की मांग के मुताबिक ढाला जाएगा जो वहीं बैठे-बैठे अपनी निर्धारित पाठ्य पुस्तकों के अनुसार प्रश्नावली भेजते और परीक्षा लेते रहते हैं, अपने परीक्षा परिणामों के हिसाब से रेवड़ी बांटते रहते हैं। वस्तुगत जीवन में रात भर बच्चे को खटमल, पिस्सू

से जूझना पड़ता है, मियादी बुखार, हैजा और चेचक के कीटाणुओं से लड़ना पड़ता है। इसी के साथ प्राकृतिक शक्तियां उसके पेड़-पौधों और जीविका के साधनों पर आक्रमण करती रहती हैं। इसीलिए प्रकृति-अध्ययन जीवन के साथ प्रकृति के संबंध और रोजमर्रा के अनुभवों का अध्ययन होगा।

यों ही हम लोग मानवीय सेवा और नागरिक भावना के क्षेत्र में मानव कल्याण के लिए चक्कर काटते रहे हैं, इसकी सुविधाएं और जिम्मेदारियां उठाते रहे हैं। थोड़े से व्यावहारिक प्रशिक्षण और अनुभव के साथ बच्चों की सक्रियता से ग्रामीण भारत की 75 प्रतिशत शारीरिक बीमारियां कुछेक महीनों में दूर की जा सकती हैं। बच्चों में अनुभव से ज्ञान ग्रहण करने, प्रयोग करने और ठोस तथ्यों से सीखने की ललक होती है। इन गुणों के कारण स्वभावतः वे तुरंत ही प्रौढ़ लोगों की शिक्षा के कारण बन जाते हैं। प्रौढ़ जन पारिवारिक जिम्मेदारियों और रोटीपानी के चक्कर में प्रयोग का साहस नहीं कर पाते। वर्षों के कठिन संघर्ष और मेहनत के चलते उन्होंने प्रयोग के प्राथमिक औजार (फलप्रद कल्पना शक्ति) को ही संभवतः खो दिया है।

यह एक तथ्य है कि हमारे पड़ोस के गांवों में बच्चों के जरिए ही नवजीवन और आशा की बेल चढ़ी। पिछली दो पीढ़ियों से ये गांव निराशा के दलदल में खो गए थे। हमने गांव के पुजारी को तीन 'आर' का अभ्यास जारी रखने दिया। उनके शिष्य अप्राकृतिक बंधनों में अपने दंडाधिकारी की मरजी पर बंधे पड़े रहे। गांव के लोगों को प्राथमिक चिकित्सा की जरूरत थी। उसी के जरिए हमने अभिभावकों का विश्वास जीता। बच्चों ने हमारे साधारण खेलों में मजा लिया। इस तरह उनकी श्रद्धा अर्जित की गई।

गांव में आग लगी तो उसे बुझाने का असंगठित प्रौढ़ों का प्रयास निष्फल रहा। उसी से बच्चों का अग्निशमन प्रशिक्षण पैदा हुआ। फिर अभ्यास, अनुशासन और आपात्काल में नेता की बात तुरंत मानने के फायदे समझ में आए। गांव का नब्बे प्रतिशत हिस्सा मलेरिया की चपेट में था। जीवन की इसी जरूरत के तहत वस्तुतः गांव का पूरा भूगोल समझा गया। गांव का नक्शा बना, तालाब, रिहाइश, गड्ढे, नाले देखे गए, पानी की निकासी के लिए नालियां खोदी गईं। कोई रसायनशास्त्र नहीं, कोई जंतुविज्ञान नहीं, कोई शरीरविज्ञान नहीं, बल्कि एनोफिलीज मच्छर के स्वभाव का अध्ययन, तालाबों में किरासन तेल डालना, बुखार के मामलों का पंजीकरण और स्वास्थ्य-बही को दुरुस्त रखना जैसे सीधे-सादे उपाय ही काम आए।

कोई स्थानीय मेला था। उसकी निःशुल्क सुरक्षा की समस्या थी। हमारे लड़कों में कई अभी बच्चे ही थे। उन्होंने यह जिम्मेदारी ली। काम था—पाखाने खोदना और लगातार उनको देखते रहना, बैलगाड़ियों को ठीक जगह रखवाना, जल के साधन की रक्षा करना

और रोज सुबह पूरे इलाके की सफाई। प्राथमिक चिकित्सा, सहानुभूति, देखभाल, निरीक्षण और सतर्कता के लिए लोगों की जरूरत थी। लगातार हर काम पर ध्यान देना था, खुद पृष्ठभूमि में रहना तथा प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान करते रहना था। इसी से पड़ोसी गांवों के नौजवानों में अपने गांव की रक्षा और देखभाल खुद करने का आंदोलन पैदा हुआ। फिर जो पैसा इससे बचा उसे स्वास्थ्य, शिक्षा और नागरिक सेवाओं के और उन्नत स्तर के महत्वाकांक्षी प्रयोगों में लगाया गया।

ताजी सब्जियों के अभाव और गोबर की खाद के नुकसानदेह विनाश को देखकर ही घरेलू बागबानी और घर की चहारदीवारों के भीतर ही सब्जी उगाने का चलन शुरू किया गया। नई फसलों की खेती का काम इसलिए सफल न हो सका, क्योंकि ऐसे किसान ही नई चीजों से खेलते रहते थे जो कोई काम ठीक से न कर पाते। गंभीर और कुशल किसान परिणाम की प्रतीक्षा करते थे। दूसरी तरफ, जब बच्चे कोई काम न कर पाते तो अभिभावक ज्यादा परेशान नहीं होते थे। वे सोचते, बच्चे आखिर बच्चे हैं। लेकिन अगर कहीं वे सफल हो गए तो उनका अनुकरण करने की प्रवृत्ति लोगों में थी। इसी तरह, बच्चों ने खुद नए स्वास्थ्य, नए जीवन और नई स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त किया।

कार्यशाला से बाग, बाग से खेत और फार्म, फार्म से पासपड़ोस, मानो भ्रमणतीर्थ और खुले आसमान तले डेरा, इसी तरह हम जीवन के विस्तीर्ण मैदान में फैलते रहे। उदाहरण के लिए, यहां से सिर्फ दो मील दूर हमारे नित्य प्रति के जीवन से जुड़ी विभिन्न तरह की गतिविधियां चलती रहती हैं। हम उन्हें अनायास ग्रहण करते हैं और अपने शैक्षिक कार्यक्रम में शामिल नहीं करते। वे हैं :

डाकघर और तारघर;
पुलिस थाना और स्थानीय कैदखाना;
कानूनी अदालत और स्थानीय दवाखाना;
रेलवे स्टेशन और गोदाम;
धान और तेल की मिल;
ईंट का भट्ठा;
लुहार और बढ़ई;
बढ़ईगिरी और लकड़ी की टाल;
मिट्टी के बरतन बनाने का काम, तांबा और पीतल का काम;
कुटीर बुनकरी उद्योग;
घड़ीसाज और सुनार; और
मोची और दर्जी।

इनमें से प्रत्येक में किसी कला, विज्ञान अथवा व्यवसाय का कोई तत्व शामिल है, औजारों और लोगों से काम लेना सीखना है। इनमें से प्रत्येक कार्य कल्पना की गति के लिए, स्वस्थ प्रतियोगिता के बीजारोपण के लिए, रचना और अनुकरण के लिए, यहां तक कि भविष्य में गंभीर प्रशिक्षण के लिए विस्तृत क्षितिज खोल देता है। जनसुरक्षा, दंड और अनुशासन के मौजूदा तरीकों के साथ परिचय और प्रयोग के जरिए ही कानून की मौजूदा भूलभुलैया में कोई राह दिख सकती है। फिलहाल तो कानून जर्जर परंपराओं और रूढ़ियों के ही बंधन में जकड़ा हुआ है। उचित निर्देशन और प्रेरणा के मातहत घरेलू स्कूल इस तरह के प्रयोगों के लिए यथोचित और स्वाभाविक प्रयोगस्थली है।

अगर संस्थान बनाने के लिए संस्थान बनाने की कोशिश की जाए तो उसका एकमात्र परिणाम बच्चों का जीवन से अलगाव होगा। अगर शिक्षा का कोई मतलब है तो उसमें निश्चित ही ऐसे प्रावधान शामिल होने चाहिए कि बच्चा वयस्क जीवन के प्रत्येक चरण का भ्रूणावस्था में अनुभव कर सके। पाठशाला ज्ञान सीखने या सुरक्षित-संरक्षित विकास की प्रयोग भूमि मात्र नहीं होती। इसकी बजाए पाठशाला में व्यावहारिक अर्थशास्त्र और आत्मरक्षा, आत्मानुशासन और स्वशासन, आध्यात्मिक अमूर्तन और मानव कल्याण की दुनिया में आत्माभिव्यक्ति का जोखिम उठाना सिखाया जाना चाहिए।

अड़ोस-पड़ोस की मदद के इस कार्य से बच्चे को वंचित करने का मतलब है, उसे अपने घर के सबसे बड़े विशेषाधिकार से वंचित करना, जहां कुछ काम वह अनायास करता है। अनेक विद्यालय तो इस काम के लिए मौजूद ही हैं कि उन्हें स्वयं और अपने साथियों की मदद के विशेषाधिकार से वंचित कर दिया जाए, कि उनमें अस्वस्थ प्रतियोगिता की अस्वाभाविक वृत्ति बढ़ाई जाए। इसी तरह की आत्मकेंद्रित संस्थाओं से दुनिया भर में मतभेद और धार्मिक अंधता के गर्हित कीटाणु फैलते हैं। इन संस्थाओं को मुख्यतः पढ़ाई और खेल में अपनी ही सफलता, छात्रों की संख्या और भवन की विशालता की अपनी ही समृद्धि की चिंता रहती है। इसी नाते वे दूसरी संस्थाओं से होड़ करती हैं। दूसरी संस्थाओं को भी अपनी ही चिंता है। फलतः संकीर्णतावाद, राष्ट्रवाद, स्वार्थपूर्ण व्यक्तिवाद और निजी दावेदारी की दूषित भावना फैलती है। परिणाम होता है : आपसी मनमुटाव और धार्मिक कट्टरता।

घरेलू स्कूल विस्तार पाते ही झट जीवन के संपर्क में आ गया। मौसम विज्ञान फसलों के उत्पादन के साथ मौसम के संबंध का अध्ययन हो जाता है। अगल-बगल के स्थानीय उद्योगों और शिल्पों, रीति-रिवाजों और धार्मिक त्योहारों, संगीत और नाटक की परंपराओं, खासकर सामाजिक गठन के रूपों से संबंधित आंकड़ों की जांच इतिहास का अध्ययन बन जाता है। इसी के तहत हमारा सरकारी उद्यम भी आता है, जिसके विकास की गति

धीमी है लेकिन भविष्य के विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी आधार पर देहाती जीवन में नवजागरण संभव है। यह नवजागरण अतीत की कीमत पर नहीं आएगा। बल्कि पुराने अनुभवों के खजाने पर आधारित होगा और साझा उद्देश्य के लिए संगठन में अभिव्यक्त होगा।

इस प्राचीन सभ्यता को नई शक्तियों और साधनों ने अचानक ग्रस लिया है। उनके प्रभाव से यह सभ्यता तेजी से नष्ट हो रही है। एक बार अतीत की धरोहर को प्रकाशमान कर दीजिए, एक बार उत्साह को गति दीजिए, एक बार नौजवानों में प्रयोग करने की इच्छा जगा दीजिए तो नई सुबह अवश्य होगी।

अब तक अतीत में हमारी शिक्षा ने प्रकृति के बुनियादी नियम, जीवनचक्र की उपेक्षा की है। जहां प्रकृति विकासमान बालक के मां का दूध पीने का समय निरंतर कम करती जाती है, वहीं हम स्कूल, कालेज के जरिए बालक की परनिर्भरता का समय बढ़ाते जाते हैं। पौधे के बीज या अंडे में ज्यों ही मां का मिलने वाला आहार समाप्त हुआ, उसकी जड़ों को जमीन के नीचे, खोज और प्रयोग करते हुए, तनों के ऊपर आसमान में पत्तियां फेंकते हुए फैलते जाना चाहिए। अंडे से निकलने वाले बच्चे को अकेले अपने भोजन की खोज में निकल जाना चाहिए। प्रकृति में शुरू में ही छोड़ देने, बाहर फेंक देने की एक प्रवृत्ति होती है। यह उस समय की तैयारी होती है जब जीव किसी बड़े आत्मबलिदानी कृत्य में अपनी संपूर्ण ऊर्जा लगा सके, एक ऐसे काम में अपने आपको झोंक सके जिसका, हो सकता है, उसे कोई प्रत्यक्ष लाभ न मिले।

हम ऐसा नहीं मानते कि इस घरेलू स्कूल को शुरू से स्ववित्त पोषित होना चाहिए। यह तो प्रकृति के अपने नियम को अपवित्र करना होगा। लेकिन इसके चलते जहां तक उसकी कार्यक्षमता अनुमति प्रदान करती है, बालक को स्वयं अपनी सहायता के लिए काम करने के विशेषाधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। हां, उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास और आनंद की जरूरतों को ध्यान में अवश्य रखा जाना चाहिए। जब तक घरेलू स्कूल का ध्येयवाक्य 'विकास के लिए स्वतंत्रता' है, इस बात का कोई डर नहीं कि बालक से उसकी क्षमता से अधिक काम लिया जाएगा।

विकास के लिए स्वतंत्रता, प्रयोग, उद्यमशीलता और साहस, सब कुछ कल्पनाशक्ति पर निर्भर है। यह प्रकृति का सबसे बड़ा वरदान है, मस्तिष्क की वह क्रिया है जो सभी प्रकार के विकासों के मूल में है। कल्पनाशक्ति को उन्मुक्त करना, उसे पंख लगा देना, 'दिमाग के बंद दरवाजों को खोल देना', किसी मनुष्य के तईं दूसरे मनुष्य की इससे महत्वपूर्ण कोई सेवा नहीं हो सकती। शिक्षासत्र के निरीक्षक को हमेशा इस कर्तव्य के लिए एकाग्रचित रहना होगा। कल्पनाशक्ति वह वरदान है जो मनुष्य को भोजन, शिकार

और मैथुनरत पशु जगत से विशिष्ट बनाती है, अलगाती है और अलादीन के चिराग की तरह उसके हाथों में अपनी मनचाही दुनिया बना लेने की ताकत दे देती है।

शिक्षा की दुनिया के सभी टकरावों में कल्पना और अनुशासन के बीच का टकराव सर्वाधिक कटु और दीर्घकालिक है। इसमें एक तरफ तो बालक छात्र है जिस पर अक्सर आत्मरक्षा की कोई जिम्मेदारी नहीं होती, आजीविका चलाने की कोई चिंता नहीं होती, अपने दिमाग की उर्वर कल्पना शक्ति की तुष्टि के लिए संपूर्ण स्वतंत्रता की चाह होती है। इन कल्पनाओं को कोमल पौधे की तरह आसानी से कुचला या तोड़ा जा सकता है। वह अक्सर अतार्किक लगन वाले अनुशासन के बंधनों से छुटकारा पाना चाहता है। कुल मिलाकर सामान्यतः अराजकता का कानून ही वह मानना चाहता है। इसका अर्थ है कि कोई शासन वह नहीं चाहता। दूसरी तरफ अभिभावक और अध्यापक हैं। वे दुनियावी लोग हैं। दुनिया की मेहनत और कठिनाई का उन्हें अनुभव है। कानून और व्यवस्था, रोजमर्रापन और लीक पर चलना उन्हें पसंद है। वे जीवनसंघर्ष में ज्ञातपक्ष के प्रतिनिधि हैं। व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए संघर्ष ने उनकी कल्पनाशक्ति को बहुत पहले कुचल दिया है। इसीलिए स्वयं अनुभव हासिल करने की परेशानियों से बालक को बचाने के लिए वे बद्धपरिकर होते हैं।

अगर बच्चे को विकास की स्वतंत्रता देनी है तो उसे अपने जीवन को नियमित करने की स्वतंत्रता भी देनी होगी। उसे दखलंदाजी और निरीक्षण से मुक्त करना होगा। लेकिन इस तरह की अराजकता ऐसे विकास की अनुमति होगी जो समूचे ढांचे के लिए खतरा पैदा कर देगा। सभी समस्याओं में अधिकतम स्वतंत्रता की रक्षा के लिए न्यूनतम अनुशासन की खोज सबसे टेढ़ी समस्या है। अपनी सीमाएं खुद तय करने और अपने तईं अनुशासन खुद तलाशने के लिए बच्चे को प्रोत्साहित करना इस पर निर्भर है कि बच्चे की क्षमता में हमें कितना विश्वास है। इस काम के लिए हमारे भीतर सच्चा साहस होना चाहिए। बच्चे को गलतियां करते देखते रहने और फिर भी चीजों को ठीक कर देने के लिए हस्तक्षेप से अपने को दूर रखने का साहस होना चाहिए।

निस्संदेह, कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहां नियम-कानून बनाना ही उचित है। गृहशिल्प शीर्षक के अंतर्गत उल्लिखित काम और कुछ अन्य काम जो आत्मरक्षा से गहरे जुड़े हैं, प्रत्येक नागरिक को प्रतिदिन करना चाहिए। उनके उचित संपादन पर ही व्यक्ति और समुदाय दोनों की समृद्धि निर्भर है। उसमें शामिल हैं : भोजन बनाना, भोजन करना, कपड़ों की धुलाई, स्नान, झाड़ू लगाना, एक शब्द में कहें तो शरीर और घर की देखभाल। अगर शरीर स्वतंत्र नहीं है तो दिमाग के लिए उड़ान भरना मुश्किल है। अतः एकदम अराजकता की राह में शरीर स्वयं एक बड़ी बाधा है। ये कार्य, कड़े अनुशासन के तहत जितनी

तेजी से और बेहतर ढंग से निबटाए जाएंगे, स्वतंत्रता का समय उतना ही बढ़ता जाएगा। इस तरह के अनुशासन की जरूरत समझने भर की सामान्य बुद्धि बच्चों में होती है और वे अनुशासन भंग की स्थिति में दंड के नियम भी स्वयं बना सकते हैं।

दूसरी तरफ, कार्यशाला चलाने का उद्देश्य होना चाहिए, थोपी हुई मनाहियों से मुक्ति क्योंकि शिल्प में दक्षता के अपने मानक और अनुशासन के अपने स्रोत होते हैं। अगर प्रयास जीवन से गहरा जुड़ा है तो सृजन की क्षमता की संपूर्ण अभिव्यक्ति के बगैर बच्चा संतोष प्राप्त ही नहीं कर सकता। ये प्रयास अक्सरहां सहकारी होंगे, अगर व्यक्तिगत हुए तो भी यह बात लागू होगी। सबसे पहले तो बच्चे का स्वाभिमान, फिर समूह की राय और फिर इन दोनों के साथ बाजार की जरूरतें, ये सब मिलकर पर्याप्त अनुशासन पैदा कर देंगे।

कितनी ही बार हम बच्चे की कल्पनाशक्ति को भयवश कुचल देते हैं। इस तरह तो वह कभी बड़ा हो ही नहीं पाएगा। जोसेफ के भाइयों की तरह हम भी प्रतिभाशाली, स्वप्नद्रष्टा लोगों को नापसंद करते हैं। ये स्वप्नदर्शी हमारे बंधे-बंधाए अस्तित्व में हलचल पैदा कर देते हैं। लेकिन ये कल्पनाशील जन ही हैं जिनके प्रति आविष्कारों की प्रगति के लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए। वे विषय का आवश्यक व्याकरण समझते हैं, लेकिन अज्ञात की दुनिया में छलांग लगाने, स्वप्न देखने और अपनी मनचाही दुनिया की कल्पना करने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। मनुष्य मानवीय ज्ञान के समुद्र में अराजक असंतोष से दिशा प्राप्त करता हुआ अपनी उर्वर कल्पनाशक्ति के झोंकों के सहारे नित नए द्वीपों की खोज करता रहा है और निरंतर करता जा रहा है। लेकिन बच्चे को हम इस बात के लिए मजबूर करते हैं कि अपने अनुभवों से यात्रा का जो नक्शा हमने तैयार कर रखा है, उसे जब तक वह कंठस्थ न कर ले, जीवन में अपनी यात्रा शुरू ही नहीं कर सकता। तब उसके जीवन की छोटी सी नाव पाठशाला में लंगर डाले खड़ी रहती है। पिटी-पिटाई लीक, कृत्रिमता और कल्पनाहीनता की खामोशी में, हम सोचते हैं, उसे सुख प्राप्त होता रहेगा।

अपनी क्षमताओं के संभवतम विकास में ही मनुष्य सच्ची स्वतंत्रता का अनुभव करता है। उसे इतनी दक्षता हासिल होनी चाहिए कि आत्मरक्षा को लेकर वह चिंतित न रहे। अपने पड़ोसी के दुःखों को समझने और उससे सहानुभूति की क्षमता के जरिए ही वह मानव समाज के एक सम्मानित सदस्य और एक जिम्मेदार नागरिक की तरह कार्य कर सकता है। संसार से अलग होने की भावना के विकास के साथ ही समय आने पर वह अमूर्तन की दुनिया में भी सृजनात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता के स्वाभावित विकास का मार्ग पा जाता है। जाहिर है कि अमूर्तन की यह दुनिया आध्यात्मिक सत्य की दुनिया

भी है, कम से कम व्यक्ति, नागरिक और सृजनकर्ता के बतौर आत्माभिव्यक्ति के सर्वोत्तम तरीके को प्राप्त कर लेना और निरंतर वर्धमान विकास की खुशियों और पेरशानियों का रोज अनुभव करना ही सच्ची स्वतंत्रता है।

कोई शिक्षा जो बच्चे के सामने स्वयं अपने लिए इन खोजों के अवसर नहीं खोल देती, उसमें कहीं कुछ बुनियादी रूप से गड़बड़ है। कभी-कभी शिक्षा को औजार कहा जाता है और इसे कारखाने की प्रक्रिया की तरह समझा जाता है। संभवतः शिक्षा का बड़ा हिस्सा ऐसा है भी। जैसे मशीन कच्चे माल को मनचाहे उत्पाद में ढाल देती है, उसी तरह बच्चे के साथ किया जाता है। लेकिन शिक्षा का उद्देश्य विकास भी है, जिसके माने हैं जीवन। इसीलिए पाठशाला जीवन का वह चरण होनी चाहिए जहां अनुभव के जरिए स्वतंत्रता हासिल करना शुरू करता है। बच्चे को स्वतंत्रता की शिक्षा देने के लिए कोई प्रयास न करने का मतलब है उसे जीवन से वंचित कर देना।

घर और कार्यशाला, दोनों ही चहारदीवारी के बाहर, प्रकृति के भी खजाने के बाहर, मनुष्य की अपनी एक दुनिया हो सकती है। वहां अराजकता ही विराजती है। यह अमूर्तन और भावावेगों की दुनिया है। अपने हाथों की मेहनत के सहारे अपनी शक्ति में आत्मविश्वास अर्जित कर, मानव समुदाय में जीवन बिता लेने की क्षमता अर्जित कर बच्चे और वयस्क, दोनों इस दूसरी दुनिया में प्रवेश करने को स्वतंत्र होते हैं। यहां यात्री अपनी सुविधा के लिए जो व्याकरण बनाता है उसके सिवा कोई व्याकरण नहीं, कोई नियम नहीं, कोई नियंत्रण नहीं।

कम ही बच्चे होंगे जिनके लिए अमूर्तन और भावाभिव्यक्ति की यह दुनिया, भावनाओं का यह संसार, सृजनात्मक उद्यम का यह साम्राज्य एक वास्तविकता न हो। इस दुनिया की सिद्धि आपमें है, इसका कोई आर्थिक या बाहरी उद्देश्य नहीं। हम बच्चे को उत्प्रेरित कर सकते हैं, हम उन्हें उत्साहित कर सकते हैं, सहानुभूति, साधन और अवसर उपलब्ध करा सकते हैं लेकिन बच्चे को विकास की स्वतंत्रता देने की हमारी नीयत में कोई खोट नहीं हो तो हमें उन पर अपने नियम, कायदे-कानून और नियंत्रण जबरदस्ती न थोपने की सावधानी बरतनी चाहिए।

बचपन की भावनाएं कल्पनाशक्ति के अपने वरदान की तरह ही जिधर मार्ग पाती हैं, बह निकलती हैं। हवा की तरह वे आती हैं और जाती हैं, मानव निर्मित कोई कानून नहीं मानतीं। स्वतःस्फूर्त होना ही उनका धर्म है। इसीलिए बच्चे को गीत, संगीत, कविता और अगर वह चाहे तो नाटक और नृत्य की दुनिया में यात्रा करने की पूर्ण आजादी होनी चाहिए। उसे रंग, रेखा या चित्र में अपने विचारों की अभिव्यक्ति का लास्य प्रकट करने देना चाहिए। उसे एकांतिक चिंतन और ध्यान के असीम क्षितिज पर भ्रमण करने

देना चाहिए, भीतर एक छोटी सी आवाज उसका साथ देने के लिए तो है ही।

बच्चे को हम धर्म की शिक्षा दे सकते हैं, यह सोचना उतना ही तर्कपूर्ण है जितना यह सोचना कि हम एक आर्किड को बड़ा होना और मनपसंद फूल खिलाना सिखा सकते हैं। हम उपजाऊ जमीन दे सकते हैं, अच्छी उत्प्रेरक खाद, थोड़ा पानी और उचित तापमान ही उपलब्ध करा सकते हैं; ताकि प्रकृति अपना काम बखूबी कर सके। जीवन का नियम है विकास। विकास के सारे सिद्धांतों को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा, पेशतर इसके कि हम यह तय करें कि पौधे के लिए क्या ठीक होगा। विकास के लिए अतिरिक्त प्रयास करने, उसे विकसित होने के लिए मजबूर करने, बाहर से जीवन थोपने की कोशिश करके हम उसे अवरुद्ध और नष्ट कर देते हैं।

जीवन को जीवन होने के लिए भरपूर जिया जाना होगा। अध्यापकों और अभिभावकों द्वारा बच्चे के साथ किए गए उत्पीड़न और उन्हें हक से वंचित रखने के पाप, छड़ी और डंडे से लागू किए गए कानून के निशानात कम-अज-कम तीन चार पीढ़ियों तक स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

4. रवींद्रनाथ का शिक्षादर्शन और विश्वभारती

सव्यसाची भट्टाचार्य

विश्वभारती एक विचार है। यह एक संस्थान भी है। इस लेख में विश्वभारती के संस्थान से उतना मुझे लेना देना नहीं, जितना उसके विचार से है। मैं रवींद्रनाथ ठाकुर के शिक्षादर्शन के संदर्भ में विश्वभारती के विचार को रखकर देखने की कोशिश करूंगा। इस काम में मैंने इस विषय पर मुझसे पहले सोचने वाले तकरीबन सभी लोगों से एक मामले में अपनी भिन्नता प्रदर्शित की है : उन्होंने ठाकुर की रचनाओं में एक अपरिवर्तनशील प्रवाह दिखाया है, जबकि मैंने विभिन्न चरणों में ठाकुर के दृष्टिकोण में बड़े परिवर्तन लक्षित किए हैं।[1] कहने का मतलब है कि कुछेक केंद्रीय विचारों के मामले में निरंतरता के बावजूद ठाकुर के दृष्टिकोण में मैं बड़े परिवर्तन देखता हूं। एक बार इसे हम मान लें तो ये परिवर्तन इस बात की इजाजत नहीं देते कि ठाकुर के शिक्षादर्शन की व्याख्या के लिए बिना कालानुक्रम और ऐतिहासिक संदर्भ का ध्यान रखे ठाकुर की रचनाओं से जहां-तहां से उद्धरण इकट्ठा कर उससे काम चला लिया जाए। जरूरत इस बात की है कि पाठ की संदर्भ सहित व्याख्या की जाए, यानी तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इन रचनाओं के वर्गीकरण के लिए कालानुक्रम का खास खयाल रखा जाए।

व्याख्या की मौजूदा प्रवृत्तियों की उपर्युक्त पद्धति संबंधी आलोचना और इस लेख में प्रस्तावित पद्धति का औचित्य तभी प्रमाणित होगा जब हम समय बीतने पर ठाकुर के शैक्षिक दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण परिवर्तन रेखांकित कर सकें। आगे के पृष्ठों में मैंने यह दिखाया है कि इस तरह के परिवर्तन हुए हैं और इस आधार पर ठाकुर के शिक्षा संबंधी दृष्टिकोण के विकास के चार चरण पहचाने जा सकते हैं, हालांकि कुछ बुनियादी तत्व एकाधिक चरणों में जारी रहे। मैं कहूंगा कि ठाकुर की प्रतिभा, अपने आसपास के जीवन और अपने जीवनानुभवों के साथ उनकी विलक्षण अंतःक्रिया के प्रति अन्याय होगा, यदि इस तरह की व्याख्या से हम संतुष्ट रहें कि उनके पास कुछ तयशुदा विचार थे जिन्हें वह आजीवन दोहराते रहे, कि उनके चिंतन में कोई प्रगति या विकास नहीं हुआ।

शिक्षा संबंधी ठाकुर के लेखन और भाषणों के उनके क्रियाकलाप और अंतःक्रिया के संदर्भ में ऐतिहासिक वर्गीकरण से मुझे लगता है कि मोटे तौर पर उनके शिक्षादर्शन

के विकास को हम चार विभिन्न चरणों में तलाश सकते हैं। ये हैं : (1) 1892-1904, (2) 1905-1915, (3) 1916-1933, और 1933-1941। साफ है कि एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण की तिथि ठीक-ठीक तय करना मुश्किल है और इन चरणों के बीच परस्पर व्याप्ति होगी। लेकिन इस मोटा-मोटी चरणबद्ध कालविभाग को दिमाग में रखना फायदेमंद होगा, इससे ठाकुर के शिक्षादर्शन के विकास के रास्ते को समझने के हमारे प्रयास को संगठित करने में मदद मिलती है।

पहला चरण : एक आलोचना और एक प्रयोग (1892-1904)

पहले चरण की शुरुआत 1892 में *शिक्षार हेरफेर*[2] (शिक्षा की गड़बडी) के प्रकाशन से होती है। ठाकुर की उम्र तब मात्र 31 वर्ष थी और शिक्षा पर आधिकारिक मत समझे जाने का उनका दावा बनता नहीं था। इसके पहले शिक्षा पर, सबसे आगे बढ़कर स्कूल के अपने अनुभवों और युवावस्था की शुरुआत के अपने यूरोप के अनुभवों पर कुछ विचार उन्होंने प्रकट किए थे। इन्हीं अनुभवों का निचोड़ उन्नीसवीं सदी के अंत में ब्रिटिश भारत में शिक्षा की इस निर्मम आलोचना के रूप में सामने आया। एक दशक बाद शांतिनिकेतन में *ब्रह्मचर्याश्रम* (1901) की स्थापना इसके बाद हुई। बाद में *समाज* में संग्रहित सामाजिक विषयों पर लिखे लेखों के साथ *आश्रम* के विचार के इर्दगिर्द लिखे गए लेखों और चिट्ठियों की लड़ी इसी कालखंड से संबंधित है।[3] इस चरण का केंद्रीय विचार है कि मातृभाषा में शिक्षा आधुनिक ज्ञान के ग्रहण और प्रसार को आगे बढ़ा सकती है, अन्यथा, अंग्रेजी माडल का हास्यास्पद और अक्षम अनुकरण कुछ ही लोगों को शिक्षित कर पाएगा और उन्हें भी अपर्याप्त रूप से।

ब्रिटिश भारत की शिक्षा व्यवस्था की आलोचना के उपरांत 1901 में *ब्रह्मचर्याश्रम* की शांतिनिकेतन में स्थापना हुई। उद्देश्य था, कलकत्ता के औपनिवेशिक शहर से दूर प्रकृति की गोद में बच्चों के लिए एक स्कूल खोलना; दूसरे, एक सांस्कृतिक परिवेश का निर्माण करना जिसका इस देश और इसके लोगों, उनकी भाषा और संस्कृति के साथ संवाद हों; और तीसरे, जहां तक व्यवहार्य हो *तपोवन* की सच्ची भारतीय धारणा का अनुकरण करना। इन्हीं समग्र उद्देश्यों के संपूर्ण ढांचे से *ब्रह्मचर्याश्रम* के दैनिक जीवन की सादगी और मितव्ययिता, पाठ्यक्रम, छात्र-अध्यापकों के बीच के संबंध और वहां के जीवन के दूसरे पहलू निर्धारित होते थे। आवासीय *आश्रम* को स्वयं संपूर्ण समाज, लघु ब्रह्मांड

होना था जिसमें छात्रों के व्यक्तित्व को निर्मित किया जाता। ठाकुर ने अपनी देखरेख में शुरू में केवल कुछ छात्रों, केवल पांच को लिया। इस संस्था के इतिहास के संबंध में लिखने से मैं बचना चाहता हूं। इसके बारे में काफी सामग्री प्रकाशित है। *ब्रह्मचर्याश्रम* की स्थापना के चार वर्ष बाद *स्वदेशी* आंदोलन चला। इसके साथ ठाकुर के विचारों और सार्वजनिक गतिविधि में एक नया मोड़ आया।

दूसरा चरण : राष्ट्रवाद और शिक्षा (1905-1915)

1905 से हम ठाकुर के शिक्षा संबंधी चिंतन के दूसरे दौर में प्रवेश करते हैं। इसका संबंध लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल के विभाजन के विरुद्ध बंगाल में हुए *स्वदेशी* आंदोलन से है। यह अच्छी तरह ज्ञात है कि इस आंदोलन ने ठाकुर सहित बंगाल के सभी बड़े बुद्धिजीवियों को अपनी लपेट में ले लिया। आंदोलन का एक मुख्य जोर राष्ट्रीय शिक्षाव्यवस्था की स्थापना था। शांतिनिकेतन में एक वैकल्पिक शिक्षाव्यवस्था के संस्थापक के रूप में पहले से ही विख्यात ठाकुर ने शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रवादी कार्यक्रम को वाणी देने में नेतृत्वकारी भूमिका अदा की। बहरहाल, जैसा कि हम आगे देखेंगे, उनके दृष्टिकोण में एक निजता थी जिसका *स्वदेशी* आंदोलन के राजनीतिक नेताओं से सभी पहलुओं में तालमेल न था। पहले दौर के विपरीत, 1905 से शुरू हुए इस दौर में ठाकुर के शैक्षिक चिंतन में राजनीतिक अंतर्वस्तु पर्याप्त मुखर है।

1905 से 1907 तक राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन से संबंधित छात्रों के सम्मुख एक संभाषण और चार बड़े लेखों में ठाकुर ने तीन बिंदुओं पर खास जोर दिया।[4] पहला, कालेज शिक्षा को राष्ट्र के जीवन से जोड़ने की जरूरत। उन्होंने कहा कि चूंकि कालेज शिक्षा विदेशी हाथों द्वारा नियंत्रित है, इसलिए इसे करने के लिए विशेष प्रयास करने होंगे। वे जापान के एक सच्चे देशभक्त योशिदा तोराजिरो का उदाहरण देते हैं जिन्होंने अपने देश को अच्छी तरह जानने के लिए समूचे देश की यात्रा की थी; ठाकुर बंगाल के छात्रों को इसी तरह अपने देश और लोगों को जानने के लिए प्रेरित करते हैं, विदेशी किताबों तक अपना अध्ययन सीमित न करने के लिए कहते हैं।[5] 'यह सोचना कि भारत माता दुर्गम हिमालय पर बैठकर मातमी धुन बजा रही है, भ्रम है। दरअसल हमें भारत माता को उस औरत में देखना चाहिए जो किसी सूखे हुए ग्रामीण पोखर के किनारे मलेरियाग्रस्त फूले पेट बालक को गोद में लिए अपने खाली भोजन के कटोरे को विषण्ण होकर देख रही है।'[6]

ठाकुर ने कहा कि प्राचीन ऋषियों के *आश्रम* में पौधे को सींचती हुई भारत माता की पूजा की जा सकती है, लेकिन हमारे घर के बगल की उस औरत पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए जो अपने बेटे को अंग्रेजी शिक्षित क्लर्क बनाने से वंचित रह जाने को बाध्य है। संक्षेप में, ठाकुर का संदेश है : अपने लोगों को जानो।

दूसरा, ठाकुर ने शिक्षा के उपनिवेशीकरण के प्रसंग पर जोर दिया (आयरलैंड से समानता दिखाते हुए)। 'स्कूली शिक्षा के जरिए विदेशी प्रभुत्व की स्थापना को हम कभी स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए समय आ गया है कि किसी भी तरह शिक्षा पर अपना नियंत्रण स्थापित किया जाए।'[7] शिक्षा की विदेशी लीक का अनुसरण करने से न तो हमें शिक्षा के वे लाभ मिल सकते हैं जो विदेशी अपने देश में प्राप्त करते हैं, न ही दिमाग को वह समृद्धि हासिल हो सकती है जो अपनी संस्कृति से परिचित होने से मिलती।

तीसरा, ठाकुर ने अपने निबंध 'नेशनल स्कूल' में राष्ट्र की दिमागी मुक्ति के प्रयासों की शुरुआत का स्वागत किया। 'मैं आज नवस्थापित नेशनल स्कूल का स्वागत करता हूं, अपनी हृदयस्थित इस आशा के साथ कि हम अंग्रेजी भाषणों को मात्र दोहरा देने वाले या अंग्रेजी अध्यापकों के पिंजरे में कैद तोते न रह जाएंगे, इस आशा के साथ कि हम अपने आपको पूरी तरह वास्तवीकृत कर पाएंगे, वह जैसा भी हो, जैसे भी हो।'[8] बहरहाल, ठाकुर राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थानों की क्षमता के प्रति थोड़े संशयालु थे। इसके बारे में थोड़ा रुककर बुनियादी रूप से उन्होंने खुद को और अपने पाठकों को यह समझाने की कोशिश की कि राष्ट्रीय शिक्षा देश को मुक्त करेगी, क्योंकि यह लोगों के *स्वभाव* के अनुरूप है और औपनिवेशिक शिक्षा में अंतर्निहित नकलचीपन से आगे बढ़ी हुई है।

1908 के बाद ठाकुर ने राष्ट्रीय शिक्षा के माडल के आगे किसी उच्चतर आदर्श की ओर देखना शुरू किया। हालांकि राष्ट्रीय शिक्षा का विचार उनकी हार्दिक इच्छा के करीब था लेकिन पहले भी राष्ट्रीय शिक्षा संस्थानों के प्रति उनके उत्साह में कुछ अगर-मगर थे। 'मुझे डर है कि नेशनल एजुकेशन कौंसिल (राष्ट्रीय शिक्षा परिषद) बनाने में हम अपने खुद के इतिहास को छोड़कर बाकी सभी देशों के माडल की तलाश करेंगे और फिर ऐसे स्कूल बनाएंगे जो रूढ़ियों के ही दोहराव होंगे।.... निस्संदेह, एक *आश्रम* का निर्माण किसी रूढ़िबद्ध स्कूल के निर्माण से अधिक निरुत्साहकारी कार्यभार है।'[9] राष्ट्रीय शिक्षा में 'राष्ट्रीय' क्या है, इसकी स्पष्ट धारणा उनकी चिंता थी और इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने *आश्रम* की धारणा पेश की। उनके अधिकांश हमवतन इसे स्वीकार कर लेंगे, इस बारे में वे निश्चिंत नहीं थे। 'मैं जानता हूं कि यदि यह शिक्षित समुदाय की नकलची धारा के विरोध में होगा तो इसे स्वीकार नहीं किया जाएगा। अगर यह स्वीकार्य नहीं है तो एक रास्ता है—इस सबको आप एक कवि की कल्पना मानकर खारिज कर दें और

मैं सांत्वना के लिए भावी पीढ़ियों की ओर देखने वाले सभी असफल कवियों की तरह अपने आपको दिलासा दे दूंगा कि अज्ञात भविष्य में कभी मेरा अस्वीकार्य प्रस्ताव फलीभूत होगा।'[10] इन संदेहों के बावजूद ठाकुर आगे बढ़े और एक सच्ची भारतीय शिक्षा व्यवस्था के निर्माण की कार्यसूची को उन्होंने विस्तृत रूप दिया। यह कार्य उन्होंने 1908 से 1915 के बीच लिखे लेखों की एक शृंखला *तपोवन* की धारणा (1909), भारतीय व्यवस्था और यूरोपीय शिक्षा की तुलना (1912), धार्मिक शिक्षा (1911), स्त्री शिक्षा (1915) और शिक्षा के माध्यम (1915) के जरिए किया।[11] अक्सरहां ठाकुर चेतावनी देने की मुद्रा में पूछते रहते हैं, 'राष्ट्रीय' क्या है? 1905 से 1907 के स्वदेशी आंदोलन के प्रथम उत्साह की दीप्ति के मंद होने के साथ बंगाल में अनेक तकलीफदेह सवाल उठने शुरू हो गए थे। मुख्यतः ठाकुर बौद्धिक दृष्टिकोण की संकीर्णता और नस्ली या सांप्रदायिक मानसिकता को लेकर चिंतित थे। 'किसी भी तरह हमारे देश में ज्ञान के परिष्कार पर लगी सीमाएं हटाई जानी चाहिए। राजनीतिक आंदोलनों आदि के जरिए हम ऐसा करने में असफल रहे हैं, जो असंबद्ध रहे हैं और जिन्होंने हमारे उद्योग को बिखेर दिया है। अनेक शिक्षकों और अनेक प्रयोगों के जरिए हमें अपने देश में शिक्षा की धारा को जीवित करना होगा, तभी शिक्षा हमारे देश की प्रकृति के अनुकूल हो पाएगी।...शिक्षा की किसी विशेष व्यवस्था को मात्र 'राष्ट्रीय' नाम दे देने से जीवित नहीं किया जा सकता। इस देश के विभिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न दिशाओं में हो रहे प्रयासों से उत्पन्न शिक्षा की व्यवस्था ही 'राष्ट्रीय' कही जा सकती है।'[12] इस तरह हमेशा की तरह ठाकुर ने यांत्रिक एकता की जगह आवयविक विविधता का पक्ष लिया और विविधता को बरदाश्त न करने वाले संकीर्ण और *सांप्रदायिक* दृष्टिकोण का विरोध किया।

तीसरा चरण : विश्वभारती
(1916-1933)

हमने 1892-1904 के चरण में उनके लेखन और गतिविधियों में ब्रिटिश भारतीय शिक्षा से उनका असंतोष देखा, और 1905-1916 के चरण में 'राष्ट्रवादी' विकल्पों से उनका असंतोष देखा। इन असंतोषों ने 1916 के इर्दगिर्द से विश्वभारती की धारणा, तीसरे चरण की बीज धारणा को ठोस करने में मदद की। 1930 के दशक के मध्य तक यह धारणा ठाकुर के चिंतन का प्रधान अंग बनी रही। स्वाभाविक रूप से इस धारणा के उदय की तारीख ठीक-ठीक नहीं बताई जा सकती लेकिन इस विचार का अंकुरण और विकास 1916

से कुछ लेखों की शृंखला में, प्रतिबिंबित होता है, जिनमें से कुछ छपे नहीं हैं, यहां से लेकर 1919 में प्रकाशित नई जमीन तोड़ने वाले लेख 'दि काज आफ डिस्सैटिस्फेक्शन' (असंतोष का कारण)[13] तक। *शांतिनिकेतन* पत्रिका में प्रकाशित इस लेख पर जितना ध्यान देना चाहिए था, दिया नहीं गया (इसे ठाकुर के संकलित संस्करण, *रचनावली* में शामिल नहीं किया गया)। इस लेख में असंतोष का केंद्र एक तरफ 'अंग्रेजी' शिक्षा और दूसरी तरफ 'राष्ट्रवादी' शिक्षा है। इनमें से पहली छात्र को बरतन बनाकर उसमें किताबी ज्ञान उड़ेलती रहती है, लेकिन प्राप्तकर्ता इसे पचाकर पोषकता और शक्ति अर्जित नहीं कर पाता। दूसरी इसलिए असंतोषजनक है क्योंकि यह अंग्रेजों द्वारा स्थापित लीक को छोड़कर चल पाने में असफल रही। 'जब हम नए विश्वविद्यालयों की स्थापना का प्रयास करते हैं तो इधर-उधर बहुत करते हैं लेकिन व्यवस्था बदलने की नहीं सोचते, इसीलिए नया पुराने की छाया में ही बना रहता है। हम खोज करना चाहते हैं लेकिन आत्मविश्वास का हममें अभाव है। इसी से हम पीड़ित हैं, बोझिल शिक्षा के भारी दबाव से हमारा आत्मविश्वास अंदर तक नष्ट हो चुका है।'[14] कुछ महीनों बाद एक दूसरे 'कोआपरेशन आफ नालेज' (ज्ञान की सहकारिता) नामक लेख में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण की आलोचना के दायरे में वे उसके विश्वदृष्टिकोण को भी समेट लेते हैं।[15] ठाकुर ने कहा कि विदेशी प्रभुत्व के अपमान ने भारतीयों में एक बेवकूफाना देशभक्ति पैदा कर दी : भारतीयों ने अपने देश की स्वर्ग की तरह पूजा शुरू कर दी, अपने ज्ञान को दैवी बना दिया, अपनी हरेक चीज को अद्‌भुत रचना मान लिया। यह असभ्य अतिरंजना की तरह था, उतना ही खराब जितना अपनी परंपरा की उपेक्षा करना। ठाकुर ने 'भारतीय ज्ञान' की तुलना जापान के मिकाडो (संभवतः मेहजी पुनर्स्थापना के पहले के) और 'यूरोपीय ज्ञान' की तुलना शोगुन से की। बाद वाले ने वस्तुतः राज किया जबकि पहला अभेद्य दीवारों के भीतर नाममात्र का राजा रहा। ठाकुर ने देशवासियों से अलगाववाद की दीवार गिरा देने का आह्वान किया क्योंकि संसार में सभ्यताओं के बीच सहयोग और ज्ञान के संश्लेषण का युग उदित हो चुका है। 'इसलिए देश में एक ऐसी संस्था की जरूरत है जहां ज्ञान का आदान प्रदान और उसकी परस्पर तुलना हो सके, जहां संपूर्ण मानव जाति द्वारा अर्जित ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में रखकर भारत के ज्ञान को देखा और विश्लेषित किया जा सके। ... जो लोग दुनिया से अलग रखकर भारत को देखते हैं, वे सचमुच भारत को नहीं समझते। इसी तरह, जो लोग भारत की संपूर्णता की अनदेखी करके भारत के केवल एक हिस्से को देखते हैं, वे भी अपने दिमाग में भारतीय मानव को नहीं पकड़ सकते।'[16] इसीलिए इस उल्लेखनीय लेख में ठाकुर ब्रिटिश भारतीय शिक्षा और राष्ट्रवादी या उपराष्ट्रवादी विशिष्टतावाद की नकारात्मक आलोचना की सीमा पार कर एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण

की और प्रस्थान करते हैं, नए चरण में ठाकुर के शैक्षिक चिंतन की यह खासियत है।

इनमें से कुछ विचारों की उत्पत्ति अक्तूबर 1916 तक खोजी जा सकती है जब ठाकुर ने अपनी अमरीका यात्रा के दौरान भारत को लिखे पत्रों में इस जरूरत के अहसास की अभिव्यक्ति की थी कि 'शांतिनिकेतन के स्कूल को भारत और बाकी दुनिया के बीच संपर्क की कड़ी बनाया जाए।'[17] प्रभातकुमार मुखोपाध्याय ने इस दौर में लिखे अनेक पत्रों की एक लड़ी की ओर संकेत किया है जिनमें ज्ञान की मानवीय चाह के भूमंडलीकरण पर जोर है। 'राष्ट्रवादी संकीर्ण मानस के दिन बीत गए' और शांतिनिकेतन को 'राष्ट्रीय भूगोल से ऊपर उठना' चाहिए।[18] 1914-18 के युद्ध से क्षतविक्षत विश्व ने इस तरह के विचारों को प्रेरित किया होगा। पहले के मुकाबले यह वृहत्तम कार्यभार था : 'संसार से राष्ट्रवादी आत्माभिमान के अजगर की पकड़ को ढीला करना ही अब मेरी बाकी बची जिंदगी का कार्यभार है।'[19]

प्रथम विश्व युद्ध के समय की इस मानसिकता और पहले दो चरणों में मैंने ठाकुर के चिंतन के जिस तर्क को दिखाने की कोशिश की है, उन्होंने मिलकर इस तीसरे चरण को जन्म दिया जिसमें विश्वभारती की धारणा को आकार मिला। 1916 में जब उपरोक्त पत्र लिखे गए और 1919 में जब 'कोआपरेशन आफ नालेज' लेख प्रकाशित हुआ, इनके बीच यह धारणा ठोस हुई। 1919 में ठाकुर के भाषण 'दि सेंटर आफ इंडियन कल्चर' (भारतीय संस्कृति का केंद्र, 27 मार्च 1919, कलकत्ता) और 'विश्वभारती' शीर्षक लेख (*शांतिनिकेतन* पत्रिका, बैशाख, 1326 बंगाब्द) में अंततः उन विचारों को अभिव्यक्ति मिली जो पिछले कुछ वर्षों से तैयार हो रहे थे।[20] 23 दिसंबर 1921 को शांतिनिकेतन में हुई विश्वभारती सोसाइटी की स्थापनाबैठक एक औपचारिक उत्सव मात्र था जो निर्मिति के क्षण के बहुत बाद हुआ, हालांकि वर्तमान विश्वविद्यालय अधिकारिक रूप से इसे ही स्थापना दिवस के रूप में मनाता है।

विश्वभारती का इतिहास दोहराना अप्रासंगिक है क्योंकि यहां हमारा उद्देश्य ठाकुर के शिक्षादर्शन के विकास के चरणों को विश्लेषित करके वर्गीकृत करना है, संस्था का इतिहास बताना नहीं। इसका उल्लेख ही काफी होगा कि 1919 से लेकर जिस साल वे चीन और जापान गए यानी 1924 के बीच रवींद्रनाथ सांस्कृतिक अध्ययन और आदान-प्रदान के विश्व केंद्र की अपनी धारणा को अमली जामा पहनाने के लिए विश्वभारती में भारत के विभिन्न हिस्सों और इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, जापान, चीन आदि से विद्वानों को ले आने में सक्षम हुए। इन्हीं वर्षों में लियोनार्ड एमहर्स्ट के निर्देशन में श्रीनिकेतन में ग्रामीण पुनर्निर्माण केंद्र का जन्म हुआ और *कर्मसचिव* (एक्सक्यूटिव सेक्रेटरी, बाद में जिन्हें रजिस्ट्रार कहा गया) डा.पी.सी. महालनबीस के हाथों विश्वभारती का सांस्थानिक

ढांचा विकसित हुआ। संभवतः इन दोनों व्यक्तियों की मदद के बिना ये दोनों कार्यभार ठाकुर के अकेले के समाई और बूते के बाहर पड़ते।[21]

जैसा कि मशहूर है ठाकुर के दिमाग में विश्वभारती के तीन उद्देश्य थे : भारत की संस्कृति की विभिन्न धाराओं को एकताबद्ध करना और उन्हें मनुष्य की विश्वसभ्यता से जोड़ना; केवल ज्ञान के वितरण यानी अध्यापन के नहीं, बल्कि ज्ञान के सृजन यानी शोध के अवसर पैदा करना; और तीसरे, शांतिनिकेतन के बाहर रह रहे आम लोगों के दैनिक जीवन और कार्यों में ज्ञान के प्रयोग के जरिए उपरोक्त प्रयासों को जीवंत यथार्थ से जोड़ना।[22] उन्होंने स्वयं *आश्रमवासियों* और व्यापक जनसमुदाय को विश्वभारती की अपनी धारणा को मूर्त करने के आमंत्रण का उत्तर देने के लिए प्रेरित किया। *विश्वभारती* और *शिक्षा* नामक इन लेखों और उद्‌बोधनों के दो मोटे संग्रह मौजूद हैं। इस विषय में उन्हें विस्तार से उद्धृत करना आसान किंतु निष्प्रयोजन है। बौद्धिक इतिहास के दृष्टिबिंदु से इससे अधिक रोचक होगी ठाकुर की आत्मालोचना, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किए गए विश्वभारती के प्रयासों के उनके मूल्यांकन को विश्लेषित करना।

मुझे लगता है कि विश्वभारती की स्थापना के एक दशक बाद रवींद्रनाथ ने अपनी ही कृति से असंतोष महसूस करना शुरू कर दिया। विश्वभारती एक विचार था। इस नाम को पाकर भी यह संस्थान दूसरे अधिकांश संस्थानों की तरह उन आकांक्षाओं को संपूर्णतः पूरा न कर सका जिन आकांक्षाओं और आदर्शों को इसे मूर्तिमान करना था। रवींद्रनाथ के लिए यह निराशा और अधिक गहरी थी क्योंकि न सिर्फ अपने सभी निजी स्रोतों को उन्होंने इस संस्थान को समर्पित कर दिया था बल्कि इसे चलाते रहने के लिए अक्सर उन्हें दान और उपहार लेने को बाध्य होना पड़ता था। इसीलिए कभी-कभी अपने निकटस्थ सहयोगियों को लिखे निजी पत्रों में ठाकुर की टिप्पणियों में क्षणिक तीखापन पैदा हो जाता था। इसके अलावा, वे अपने आपको अकेला धर्मयोद्धा समझते और अपने सहयोगियों में उत्साह और प्रतिबद्धता का अभाव पाते। 'मुझे तो कहीं विश्वभारती का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता, किस कूड़ेखाने में वह मौजूद है, मैं नहीं जानता। जिन लोगों के साथ मैं काम करता हूं उनकी प्रतिबद्धता में वह नहीं है....उनके सपनों में भी वह मौजूद है इसमें मुझे संदेह है। ...मैं लोगों को अपने नजदीक नहीं ला सका क्योंकि अपने विचारों के मामले में मैं अकेला हूं।' यह 1927 की हालत है। फिर 1930 में : 'विश्वभारती ? मेरी इच्छा है कि मैं प्रायश्चित करूं और एकांतवास ले लूं। कदम-कदम पर मुझे अहसास होता है कि मैं एक सत्य को उसके विपरीत में बदल रहा हूं, और कितना भयानक बोझ है यह।'[23] इसी तरह और भी।

विश्वभारती के विचार में अंतर्निहित आकांक्षाओं की कसौटी पर खरा उतरने में संस्थान

असफल हुआ, इस तरह के क्षणिक अधैर्य के अतिरिक्त 1930 के दशक में ठाकुर की यह दुश्चिंता लगातार बलवती होती गई कि विश्वभारती परंपरागत विश्वविद्यालयों की अनुकृति में बदलता जा रहा है। 1930 में विद्या भवन के अध्यक्ष नलिन गांगुली और 1935 में डी.एम. सेन को लिखते हुए ठाकुर ने विश्वभारती में पारंपरिक विश्वविद्यालयों की तरह सर्वभक्षी 'परीक्षा के भूत' के प्रवेश के लिए फटकारा था। 1931 में संभवतः शांतिनिकेतन में खुद को प्रदत्त भूमिका पर टिप्पणी करते हुए ठाकुर ने कहा, 'मैं कोई सिद्धांतवेत्ता नहीं हूं, शास्त्र घोटे हुए कोई *गुरु* नहीं हूं, कोई नेता नहीं हूं', उन्होंने कहा मैं केवल एक कवि हूं।[24] शांतिनिकेतन में विश्वभारती में बोलते हुए ठाकुर ने अनेक बार अपने ही द्वारा स्थापित संस्था से अपने आपको अलगाया : सबसे उल्लेखनीय है जनवरी 1933 में दिया गया एक भाषण जिसमें उन्होंने कहा कि उन्हें सहयोग के अभाव और विरोध का सामना करना पड़ता है और फिर 1934 के वसंत में उन्होंने विश्वभारती में 'यांत्रिकता के प्रवेश' की शिकायत की और कहा कि जैसा उन्होंने सोचा था, विश्वभारती वैसा रहेगा इसकी उन्हें उम्मीद नहीं है।[25] 1934 के अगस्त और नवंबर में ठाकुर के दो संस्थापक सहयोगी, संगीत भवन के दिनेंद्रनाथ ठाकुर और विद्या भवन के विधुशेखर शास्त्री, शांतिनिकेतन छोड़कर चले गए। दिसंबर 1935 में विश्वभारती का 1922 का बुनियादी संविधान बदल दिया गया और निर्णय की प्रक्रिया में अध्यापक परिषद की लोकतांत्रिक भागीदारी को बहुत घटा दिया गया।[26] कुल मिलाकर जहां तक विश्वभारती का मामला है, 1930 के दशक का पूरा मध्यकाल ठाकुर के लिए पीड़ादायक परिवर्तनों का काल हो गया लगता है।

इसके अलावा, इस समय ठाकुर के शिक्षा संबंधी चिंतन के दार्शनिक प्रतिमानों में भी बदलाव आ गया, ऐसा लगता है। 'विश्वभारती' से उनका मोहभंग हो गया, इस नाते नहीं, बल्कि नए कार्यभारों की जिम्मेदारी की जरूरत पर उन्होंने जोर देना शुरू कर दिया। इनमें सबसे ऊपर था, विश्वविद्यालय और कालेजों की सीमा के पार साक्षरता और शिक्षा के प्रसार का कार्यभार। 1930 के दशक के मध्य के बाद उनकी कार्यसूची में सबसे ऊपर *लोकशिक्षा* या जनसमुदाय की शिक्षा आ गई।

अंतिम चरण : लोकशिक्षा
(1933-1941)

अब हम रवींद्रनाथ के शिक्षादर्शन के विकास के चौथे और अंतिम चरण में प्रवेश करते

हैं। इस दौर में नए सुर की गूंज 1933 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए गए उनके व्यावसायिक भाषणों और 1935 में प्रकाशित दो लेखों में सुनाई पड़ती है; इन भाषणों के विषय हैं 'शिक्षा का प्रसार' (*विकिरण*) और 'शिक्षा को आत्मसात करना' (*स्वांगीकरण*)।[27] कलकत्ता विश्वविद्यालय के अपने व्यावसायिक भाषणों में ठाकुर प्राचीन भारत में शिक्षण संस्थानों के इतिहास और कैसे वे समाज के अंग थे, इस पर जोर देते हैं; कहते हैं कि जब तक छात्रों और अध्यापकों की मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम न बनेगी, तब तक भारत में आधुनिक विश्वविद्यालय अलग-थलग पड़े रहेंगे। वे भारत में होंगे लेकिन भारतीय समाज के न होंगे।[28] ठाकुर विश्वविद्यालय की सच्ची भूमिका की व्याख्या करते हैं कि इसे अपनी चहारदीवारी और सिंहद्वार के बाहर शिक्षा का प्रसार करना चाहिए। उन्होंने कहा कि अंग्रेजी राज में प्राथमिक शिक्षा और बुनियादी साक्षरता घटी है। शिक्षा की देसी पद्धति बहिष्कृत कर दी गई और उसे मर जाने की इजाजत दे दी गई है। 'एक तरफ हमारे देश में पारंपरिक शिक्षा के प्रसार को बाधित कर दिया गया है और लोग जैसे बारिश नहीं होने पर परेशान होते हैं, उसी तरह शिक्षा के अभाव में पीड़ित हो रहे हैं, दूसरी तरफ जो आधुनिक शिक्षा आई है, वह इस देश के सामान्य जन तक बहकर नहीं पहुंचती। यह शिक्षा पत्थरों से बने कुओं में ठहर गई है, इसकी रक्षा करने वाले पुजारी भारी कर वसूलते हैं और वहां अनेकानेक नियम-कानून चलते हैं।[29] इस गतिरोध से बाहर निकलने का रास्ता सरल बंगला भाषा में साहित्य का सृजन है ताकि विश्वविद्यालय के नियमों के चलते जो लोग दाखिला नहीं ले पाते, न ही वहां प्रवेश का टैक्स अदा कर सकते हैं, उन तक पहुंचा जा सके।

1935-36 में इस विषय को ठाकुर ने न्यू एजुकेशन फेलोशिप नामक संगठन के मंच का इस्तेमाल करते हुए व्याख्यायित किया। इसमें जॉन डिवी के अनुयायी और समानधर्मा 'प्रगतिशील' शिक्षाविद थे और 1936 में इस संगठन ने डी.एम. सेन और अनिलकुमार चंद आदि ठाकुर के सहयोगियों को शामिल कर एक भारतीय शाखा खोली। इसके कलकत्ता सम्मेलन में ठाकुर ने 'शिक्षा के स्वांगीकरण' पर व्याख्यान दिया : कि जो शिक्षा केवल समाज के ऊपरी तबकों तक पहुंचती है और निचले तबकों को अनछुआ छोड़ देती है, वह किसी भी सभ्य समाज को स्वीकार्य नहीं हो सकती।[30] इस तरह की असमानता अलगाव (आत्मविच्छेद) पैदा करती है और एकता की राह की बाधा है, नव आधुनिकीकृत एशियाई राष्ट्रों और रूस में ठाकुर ने अपनी यात्राओं में देखा कि साक्षरता का तीव्र प्रसार हुआ है, और जापान जैसे देश में, जिसका उदाहरण ठाकुर अक्सर देते थे, माध्यम के रूप में मातृभाषा के उपयोग ने बड़ी मदद की थी। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि इसी तरह शिक्षा को भारतीय भूमि के अनुरूप ढाला जाना चाहिए और शिक्षा के अवसर, जहां तक

संभव हो, विस्तारित किए जाने चाहिए। ठाकुर ने एक ठोस प्रस्ताव रखा जिसमें खुला विश्वविद्यालय के विचार का पूर्वानुमान निहित है, एक पाठ्यक्रम घोषित किया जाना चाहिए और कलकत्ता विश्वविद्यालय को बिना स्कूल-कालेज में दाखिले या फीस के भुगतान के परीक्षाएं लेना चाहिए। इस योजना को स्वभावतः विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्रशासन ने खारिज कर दिया।

लोकप्रिय शिक्षा के उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए ठाकुर ने *लोकशिक्षा ग्रंथमाला* शुरू की। इस कड़ी में पहली पुस्तक ठाकुर की *विश्वपरिचय* (1344 बंगाब्द) आई। यह एक लोकप्रिय पुस्तक है जिसमें ठाकुर के जीवन के अंतिम वर्षों के इस दौर की भव्यता के साथ स्पष्टता से युक्त अप्रतिम शैली के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने पहले कभी के मुकाबले ज्यादा बलपूर्वक विज्ञान को शिक्षा का महत्वपूर्ण घटक माना। अब विज्ञान पर उन्होंने उसी तरह ध्यान देना शुरू किया जिस तरह शुरुआती चरणों में जब विश्वभारती आकार ले रहा था तो उन्होंने संगीत और ललित कला पर ध्यान दिया था। ठाकुर ने इस किताब को बंगाल के भौतिक विज्ञानी को समर्पित किया जिनका नाम बोस-आइंस्टीन सांख्यिकी खोजों के प्रसंग में आइंस्टीन के साथ जुड़ा हुआ है। ठाकुर ने भूमिका में लिखा : 'किसी बड़े जंगल में जो पत्तियां पेड़ों से गिरती हैं वे धरती को उर्वर बनाती हैं। जिन देशों में विज्ञान का परिष्कार हुआ है, वहां विज्ञान के कण गिरते हैं और फैल जाते हैं। वे ही दिमाग में वैज्ञानिक चेतना की उर्वरा शक्ति बनते हैं। इसी के अभाव से हमारा दिमाग अवैज्ञानिक रहा है। यह अभाव न सिर्फ ज्ञान के क्षेत्र में बल्कि हमारी व्यावहारिक दुनिया में भी हमारी असफलता का कारण है।'[31]

जब लोकशिक्षा ग्रंथमाला शुरू हुई उसी समय शिक्षा पर हुए वर्धा सम्मेलन ने महात्मा गांधी के बेसिक शिक्षा के विचार को सामने ला दिया। छात्र के व्यक्तित्व निर्माण और जीवननिर्वाह दोनों के साधन के रूप में कर्म शिक्षा पर गांधी का जोर ठाकुर के श्रीनिकेतन के ग्रामीण स्कूल के निर्माण के मूल में स्थित विचारों से मिलता जुलता था। यह स्कूल, शिक्षासत्र 1924 में स्थापित हुआ, ए. विलियम्स आर्यनायकम महोदय 1926 से 1934 तक इसके प्रिंसिपल रहे, बाद में उन्होंने ही वर्धा में गांधी के प्रायोगिक स्कूल और 1937 में बेसिक शिक्षा की वर्धा योजना के लेखन में प्रमुख भूमिका निभाई। इसके बहुत पहले 1925 में श्रीनिकेतन में ठाकुर के स्कूल को गांधी ने व्यक्तिगत रूप से देखा था। ऐसा लगता है कि ग्रामीण शिक्षा के ठाकुर के विचार (व्यावसायिक शिक्षा में व्यावहारिक प्रशिक्षण, शारीरिक श्रम आदि पर जोर) और बैसिक शिक्षा की वर्धा योजना में मूर्त गांधी की कर्म शिक्षा की धारणा में समरूपता है। इसके बारे में आर्यनायकम, डा. पी.सी. लाल, एच. बी. मुखर्जी, सुनील सी. सरकार और दूसरों ने बहुत कुछ लिखा है।[32] बहरहाल, इनमें

से कुछ टिप्पणीकारों ने दार्शनिक जॉन डिवी, शिक्षा विशेषज्ञ डब्ल्यू.एच. क्लिपैट्रिक (और पेस्टालाजी और फ्राबेल जैसे और लोगों) के प्रभाव की जो चर्चा की है वह बहुत कम प्रमाणों पर आधारित लगती है।

विचारों की समानता से अलग एक दूसरे पर प्रभाव मात्र समानधर्मा चिंतन और समानांतरता को दिखा देने से प्रमाणित नहीं हो जाता। जैसे भी देखिए, गांधी की बेसिक शिक्षा की अवधारणा के प्रति ठाकुर की प्रतिक्रिया समर्थन की ही थी, हालांकि वे हस्तशिल्प में व्यावहारिक प्रशिक्षण पर अतिरिक्त जोर और 'क्रीड़ा' और क्लात्मक सृजन की बहिष्कृति की आलोचना करते थे।[33]

हस्तशिल्प प्रशिक्षण की सीमाओं की उनकी आलोचना इस दौर में ठाकुर के चिंतन के एक और महत्वपूर्ण पक्ष से जुड़ी हुई है : 'शिक्षा में समानता' के विचार से। ठाकुर उन शैक्षिक योजनाओं की आलोचना करने लगे जो केवल ग्रामीणों और समाज के अन्य पिछड़े तबकों के लिए थीं। उन्हें यह घिनौना लगता था कि विशेषाधिकार प्राप्त लोगों की शिक्षा का एक सस्ता संस्करण विशेषाधिकारहीन लोगों के ज्ञान के लिए पेश किया जाए। उन्होंने माना कि स्रोतों की कमी के चलते हम यह रास्ता अख्तियार कर सकते हैं, लेकिन नैतिक रूप से इसका बचाव करने में वे सक्षम न थे। न केवल 1937 में बेसिक शिक्षा के विषय में बल्कि बाद में 1940 में भी श्रीनिकेतन के स्थापना उत्सव में बोलते हुए ठाकुर ने शिक्षा में असमानता के प्रति अपनी नैतिक पीड़ा को जाहिर किया था :

> 'जो लोग गांवों में सेवा भावना से आते हैं उनसे मेरा कहना है कि (गांवों में) शिक्षा की व्यवस्था दिमाग में यह विचार लेकर नहीं बनाई जानी चाहिए कि इन ग्रामीणों को शिक्षा की बहुत कम जरूरत है इसलिए इनके दिमागों के लिए उपयुक्त एक ग्रामीण शिक्षा किसी तरह खोजखाज लेना ही काफी है।....यह उनका अपमान है, जो शिक्षा की असमानता से पैदा हुआ है। आत्माभिमान की एक मानसिकता पैदा हुई है जो कहती है उनका निर्देशन करना है, हम दूर से, उनसे ऊंचे रहकर उन्हें निर्देशित करेंगे।....हमें आज शिक्षा में समानता की जरूरत है।[34]

विशेषकर ठाकुर ने आम लोगों में विज्ञान के प्रसार की आवश्यकता को रेखांकित किया। भारत में शिक्षा की समस्या पर ठाकुर की यह अंतिम बड़ी घोषणा (6 फरवरी 1940) है। ठाकुर के अंतिम कुछ वर्षों के मूलभूत विचारों को यह संक्षेप में प्रस्तुत कर देता है : शिक्षा तक आम जनसमुदाय की पहुंच होनी चाहिए तथा विज्ञान की संस्कृति को आत्मसात किया जाना चाहिए और इसे जन संस्कृति का अंग बना देना चाहिए।

उपसंहार

मैंने यह दिखाया है कि आम तौर पर स्वीकृत विचार के विपरीत ठाकुर के शिक्षादर्शन में अपरिवर्तनशील निरंतरता नहीं है। मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि अपने जीवनानुभवों और अपने समाज के ऐतिहासिक अनुभवों से संवाद करते हुए ठाकुर के शिक्षा संबंधी दृष्टिकोण में कुछ बुनियादी परिवर्तन आते रहे हैं। इन परिवर्तनों के आधार पर ठाकुर के शिक्षादर्शन के विकास में चार निश्चित चरणों की हमारी पहचान सही हो सकती है। प्रत्येक चरण में एक प्रमुख प्रतिमान (या माडल) रहा है। पहले चरण में *ब्रह्मचर्याश्रम*, दूसरे चरण में *स्वदेशी* या *राष्ट्रीय शिक्षा*, तीसरे चरण में *विश्वभारती* उनका आदर्श बना और हालांकि ठाकुर की कार्य योजना में यह सर्वदा प्राथमिक बना रहा फिर भी चौथे चरण में *लोकशिक्षा* पर उन्होंने खास ध्यान दिया।

हमने देखा कि कैसे ये प्रतिमान ठाकुर के चिंतन में जन्मे और बड़े हुए। एक के बाद एक चरण में ठाकुर की आलोचनात्मक कुशाग्रता ने प्रत्येक प्रतिमान की सीमाओं का अतिक्रमण किया और नए विचारों की ओर, चिंतन और कार्यवाही के नए फलकों की ओर निरंतर आगे बढ़ी।

इसके साथ-साथ, कुछ बुनियादी विचार भी थे जो इस विकासवादी प्रक्रिया के एकाधिक चरणों में निहित चिंतन पद्धति में समाए हुए हैं। ये समानताएं निम्नलिखित चीजों से शिक्षा को जोड़ने की उनकी शाश्वत इच्छा से पैदा हुई है : (1) लोगों के *स्वभाव* अथवा उनकी प्रकृति और उनकी संस्कृति से (इसीलिए मातृभाषा में शिक्षा पर बल है), (2) सामान्य जन के जीवन से (इसीलिए श्रीनिकेतन और *शिक्षासत्र* तथा बाद में *लोकशिक्षा* या *जनशिक्षण* उद्यम सामने आए), (3) भारत के लोगों और विश्व को एकताबद्ध करने के प्रयासों से (पहला उद्देश्य *स्वदेशी* चरण में प्रमुख है और दूसरा विश्वभारती की धारणा में), और अंततः (4) सार्वभौमिक मूल्यों में जिसकी जड़ें हों ऐसी मानवतावादी शिक्षा से (इसीलिए राष्ट्रोपरि मानवीय मूल्यों और विज्ञान की संस्कृति की लाक्षणिकता निरंतर बढ़ती गई है)। ऊपर विश्लेषित चरणों में एकाधिक को ये बुनियादी उद्देश्य आपस में जोड़ते हैं और ठाकुर के शिक्षा संबंधी चिंतन के पचास वर्षीय लंबे इतिहास को एकता प्रदान करते हैं।

कुछ मामलों में विश्वभारती का विचार ठाकुर के बुनियादी शिक्षादर्शन का संपुट है, हालांकि संभव है, इस नाम की संस्थान कुछ मामलों में अपने आदर्श पर खरा न उतरा हो। महात्मा गांधी का लिखा ठाकुर का प्रसिद्ध पत्र इसका प्रमाण है : 'विश्वभारती एक ऐसी नाव की तरह है जो मेरे जीवन की सबसे बेहतरीन खजाने की संदूक लिए जा रही

है। मुझे उम्मीद है कि अपने देशवासियों से अपनी रक्षा में विशेष ध्यान देने का यह दावा करेगी।' (19 फरवरी 1940)[35] लेकिन ठाकुर के लिए विश्वभारती कोई शामिलबाजा नहीं था—यह नया कुछ करने का, विचारों के दुःसाहस में भागीदारी का आमंत्रण था। एकदम शुरू से ही यह ऐसा था : 'इस संस्था को छात्रों और अध्यापकों के उत्साहपूर्ण सहयोग से निरंतर सृजन बन जाना चाहिए।'[36] विश्वभारती अभिलेखागार में सुरक्षित पैट्रिक गिडिस को लिखे एक अप्रकाशित पत्र में पुनः लिखते हैं :[37] 'मुझे जो बात उत्साहित करती रहती है वह यह तथ्य कि हम अब तक किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचे हैं और इसीलिए हमारा कार्यभार कभी हमेशा के लिए तय कर ली गई योजना को लगातार दोहराना मात्र नहीं रह गया है।' इस तरह विश्वभारती को ठाकुर ने सृजन में भागीदारी के लिए निरंतर खुले आमंत्रण के रूप में ग्रहण किया था और मुझे आशा है कि वह ऐसा ही बना रहेगा।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. रवींद्रनाथ ठाकुर के शिक्षादर्शन पर कुछ मानक ग्रंथ हैं : एच.बी. मुखर्जी की पी-एच.डी. थीसिस *एजुकेशन फार फुलनेस* (बंबई, 1962), सुनीलचंद्र सरकार की *टैगोर'स एजुकेशनल फिलासफी एंड एक्सपेरिमेंट* (शांतिनिकेतन, 1961), शशधर सिन्हा की *सोशल थिंकिंग आफ रवींद्रनाथ टैगोर* (बंबई, 1962), सत्येंद्रनाथ राय की लंबी भूमिका के साथ एक संकलन *रवींद्रनाथेर चिंताजगत : शिक्षा चिंता* (कलकत्ता, 1982), मोहित चक्रवर्ती की *टैगोर एंड एजुकेशन फार सोशल चेंज* (कलकत्ता, 1933). शिक्षा के बारे में ठाकुर का सबसे अच्छा परिचय अब भी एल.के. एमहर्स्ट की *रवींद्रनाथ टैगोर : पायनियर इन एजुकेशन* (लंदन, 1961) से मिलता है. एस. राधाकृष्णन की *दि फिलासफी आफ रवींद्रनाथ टैगार* (पुनर्मुद्रण, बड़ौदा, 1961) ठाकुर के शिक्षा संबंधी कार्यों के बहुलांश के प्रकाशन के पहले ही लिखी गई. इन टिप्पणियों में तारीखें, अगर और कुछ नहीं लिखा है तो, ईसवी सन के अनुसार दी गई हैं; अगर यथावसर कहीं बंगाब्द का प्रयोग किया गया है तो ऐसा लिख दिया गया है.
2. *शिक्षार हेरफेर* शीर्षक लेख *साधना* पत्रिका में (1299 बंगाब्द) प्रकाशित हुआ और बाद में रवींद्रनाथ की *शिक्षा* (प्रथम संस्करण, 1315 बंगाब्द) में संकलित हुआ. इस लेख से एक जीवंत बहस शुरू हुई जिसमें बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, जस्टिस गुरुदास बनर्जी, आनंद मोहन बोस ने भाग लिया. *साधना* में रवींद्रनाथ ने एक पुनर्लेख (1300 बंगाब्द) लिखा जिसे इन सबका समर्थन और इनकी प्रेरणा मिली.
3. रवींद्रनाथ ठाकुर का समाज (1315 बंगाब्द) विशेषकर *व्याधि ओ प्रतिकार* और *नकलेर नकल*. इसके बाद टिप्पणियों में अगर लेखक का नाम नहीं लिखा है तो वे रवींद्रनाथ ठाकुर

की रचनाएं हैं. मुझे खेद है कि तकनीकी समस्याओं के चलते बंगला से लिप्यंतर करते हुए ध्वनि निर्देशक चिह्नों का उपयोग नहीं किया जा सकता.

4. *शिक्षा* (1315 बंगाब्द) में संकलित लेख जिनका शीर्षक है : (क) *छात्रदेर प्रति संभाषण*, (ख) *शिक्षा समस्या*, (ग) *शिक्षा संस्कार*, (घ) *जातीय विद्यालय* और (ङ) *आवरण*.
5. ऊपर पाद टिप्पणी 4 (क) में उद्धृत शीर्षक.
6. वही.
7. ऊपर पाद टिप्पणी 4 (ग) में उद्धृत शीर्षक.
8. ऊपर पाद टिप्पणी 4 (घ) में उद्धृत शीर्षक.
9. ऊपर पाद टिप्पणी 4 (क) में उद्धृत शीर्षक.
10. *वही*.
11. *शिक्षा* (नया संस्करण, 1342 बंगाब्द) में संकलित लेख जिनका शीर्षक है : (क) *तपोवन*, 1909, (ख) *धर्मशिक्षा*, 1911, (ग) *शिक्षा विधि*, 1912, (घ) *स्त्री शिक्षा*, 1915, (ङ) *शिक्षार वाहन*, 1915.
12. ऊपर पाद टिप्पणी 11 (ग) में उद्धृत शीर्षक.
13. *असंतोषेर कारण* शीर्षक लेख *शांतिनिकेतन* पत्रिका (1326 बंगाब्द) में प्रकाशित हुआ और *शिक्षा* (नया संस्करण, 1342 बंगाब्द) में पुनर्मुद्रित हुआ.
14. वही.
15. *विद्या समवाय शांतिनिकेतन* पत्रिका (1326 बंगाब्द) में प्रकाशित और *शिक्षा* (नया संस्करण, 1342 बंगाब्द) में पुनर्मुद्रित हुआ.
16. वही.
17. *चिट्ठी-पत्र*, भाग II, पत्र की तारीख 11 अक्तूबर 1916.
18. *वही*, पत्र की तारीख 8 अक्तूबर 1916; भाग IV, पत्र की तारीख 22 अक्तूबर 1916; प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की *रवींद्र जीवनी*, भाग II (कलकत्ता 1355 बंगाब्द), पृ. 439.
19. *चिट्ठी-पत्र*, भाग II, पत्र की तारीख 11 अक्तूबर 1916.
20. *विश्वभारती* (1358 बंगाब्द या 1951 ईसवी), लेख संख्या 1.
21. दुर्भाग्यवश, विश्वभारती का इतिहास लिखा जाना अब भी बाकी है. मैंने व्यक्तिगत रूप से विश्वभारती के अभिलेखागार और कार्यालयों से दस्तावेज इकट्ठा करना शुरू किया ताकि एक इतिहास संबंधी भूमिका के साथ दस्तावेजों का एक-संग्रह प्रकाशित कर सकूं; लेकिन यह काम इतना बड़ा है कि एक अकेले आदमी के बूते का नहीं. आशा है कि विश्वविद्यालय इस संबंध में कोई प्रोजेक्ट शुरू करेगा.
22. पाद टिप्पणी 20 और *विश्वभारती* (1358 बंगाब्द) में *यत्र-तत्र*.

23. प्रभातकुमार मुखोपाध्याय, *पूर्वोद्धृत*, भाग III, पृ. 209; *चिट्ठी-पत्र*, भाग III, पृ. 37.
24. *प्रवासी* पत्रिका (1338 बंगाब्द) में भाषण का पाठ; प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, *पूर्वोद्धृत*, भाग III, पृ. 297.
25. 1934 और 1935 में दिए गए भाषणों का पाठ बिना शीर्षक के *विश्वभारती* में प्रकाशित हैं, संख्या 16 और 17.
26. कर्म समिति की कार्यवाही, भाग I (अप्रकाशित), दिसंबर 1935.
27. (क) *विश्वविद्यालयेर रूप*, 1933; (ख) *शिक्षार विकिरण*, 1933; (ग) *शिक्षार स्वांगीकरण*, 1936; (घ) *शिक्षा* (संवर्धित संस्करण, 1351 बंगाब्द) में पुनर्मुद्रित. इनमें से पहले दो कलकत्ता विश्वविद्यालय में 1933 में दिए गए ठाकुर के व्यावसायिक भाषण हैं और तीसरा कलकत्ता में 1936 में हुई न्यू एजुकेशन फेलोशिप कांफ्रेंस में दिया गया भाषण (देखें नीचे पाद टिप्पणी 30) है.
28. ऊपर पाद टिप्पणी 27 (क) में उद्धृत शीर्षक.
29. ऊपर पाद टिप्पणी 27 (ख) में उद्धृत शीर्षक.
30. ऊपर पाद टिप्पणी 27 (ग) में उद्धृत शीर्षक, न्यू एजुकेशन फेलोशिप नामक संगठन के कलकत्ता सम्मेलन में दिया गया भाषण; इस भाषण में ऊपर पाद टिप्पणी 11 (ग) में उद्धृत शिक्षा के माध्यम पर पहले लिखे एक लेख के अंश भी शामिल हैं.
31. *विश्व परिचय* (1344 बंगाब्द), सत्येंद्रनाथ बोस को समर्पित.
32. सुनीलचंद्र सरकार, एच.बी. मुखर्जी, पूर्वोद्धृत, ऊपर पाद टिप्पणी 1, पी.सी. लाल की *रिकंस्ट्रक्शन एंड एजुकेशन इन रूरल इंडिया* (1932); प्रभातकुमार मुखोपध्याय, *पूर्वोद्धृत*, भाग IV, पृ. 116-130 इस लेख में उल्लिखित इस दृष्टिकोण के मुख्य प्रचारक हैं कि डिवी और दूसरों का प्रभाव पड़ा था. एल.के. एमहर्स्ट, *पूर्वोद्धृत*, ऊपर पाद टिप्पणी 1, मेरा विश्वास है, वास्तविक रूप से इस बात को चिह्नित करती है कि ठाकुर के विचार उनके अनुभवों और पर्यवेक्षणों से बने थे, न कि शैक्षिक सिद्धांतों के उनके अध्ययन से.
33. *विश्वभारती न्यूज*, जनवरी 1938.
34. *पल्ली सेवा*, श्रीनिकेतन में 6 फरवरी 1940 का भाषण, *पल्ली-प्रकृति* (1368 बंगाब्द) में पुनर्मुद्रित.
35. *विश्वभारती न्यूज*, अप्रैल 1940.
36. *क्रिएटिव यूनिटी* (लंदन, 1922) में 'ऐन ईस्टर्न यूनिवर्सिटी'.
37. पैट्रिक गिडिस को रवींद्रनाथ ठाकुर, 9 मई 1922, पी. गिडिस के साथ पत्र-व्यवहार, संख्या 2534, रवींद्रभवन आर्काइव्स, शांतिनिकेतन.

भाग दो

रवींद्रनाथ के शैक्षिक निबंध

5. ग्रामीण भारत की शिक्षा

खोज करने पर पता चलता है कि सभ्यता को विनाश की ओर ले जाने वाला एक कारण मानवीय संबंधों की विकृति या अव्यवस्था है। मजबूत और कमजोर के बीच बढ़ती दूरी ने सामाजिक समरसता को नष्ट कर दिया है। सामाजिक शरीर में जीवन का प्रवाह मालिक और गुलाम, संपत्तिशाली और निर्धन वर्गों के बीच समाज के विभाजन से अवरुद्ध हो गया है। एक तरफ भोग की अति, दूसरी तरफ रक्ताल्प दुर्बलता ने राजनीतिक शरीर को कारुणिक स्थिति में डाल दिया है। इसी छिद्र से विनाश के दूत प्रवेश करते हैं। हमारे समाज में यह दूरी कहीं और के मुकाबले अधिक है। यह दुर्भाग्य हाल के दिनों में ही उदित हुआ है।

एक समय हमारा ग्रामीण समाज जीवंत था। इसी समाज के जरिए समूचे देश की एकता की जंजीर ढाली गई और ज्ञान, सेवा और धर्म का प्रवाह गांवों तक पहुंचता रहा। इस देश का मानस गांवों तक अपने आपको व्याप्त करके ही शरण और जीवन पाता था। यह सही है कि बहुतेरा आधुनिक ज्ञान और विज्ञान और उनके लाभों से हम वंचित थे : तब हमारे प्रयासों का घेरा अधिक संकीर्ण और कम विभिन्नता लिए था और हमारी जीवनपद्धति में इससे संबंधित तामझाम का अभाव था। लेकिन सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण कार्यभार अबाध चलते रहे। अब ऐसा नहीं है। जब तक नदी में जलप्रवाह बना रहता है कोई भी इस पार उस पार कर सकता है, इस या उस देश आ जा सकता है और एक दूसरे से लेन-देन जारी रह सकती है। जब पानी सूख जाता है तो नदी का गड्ढा ही अपने आप एक बड़ा अवरोध बन जाता है। आज का प्रशस्त पथ कल के जंगल में बदल जाता है। वर्तमान काल में यही हुआ है।

जिन्हें हम भद्रलोक कहते हैं उनकी शिक्षा, उनकी इच्छा, उनकी कोशिशें और उनको सुलभ अवसर मृत नदी के एक किनारे की सूखी कंदरा के समान है : एक अलंघ्य दूरी, ज्ञान और विश्वास, रिवाजों और आदतों और दैनिक जीवन पद्धति के मामले में दूसरे किनारे पर खड़े लोगों से उन्हें अलग कर देती है। ग्रामीणों को न शिक्षा, न ही चिकित्सा सुविधा उपलब्ध है और न उनके पास धन, भोजन और वस्त्र का भंडार है। दूसरी तरफ जो कालेज में पढ़ते हैं, वकालत या डाक्टरी करते हैं या बैंकों में रुपया जमा करते रहते हैं, वे अगाध समुंदर द्वारा अलग-थलग कर दिए गए द्वीप पर अपने को खड़ा पाते हैं।

स्नायुतंत्र के जरिए शरीर के अंगों की संवेदना मस्तिष्क तक पहुंचती है और शरीर अपने अंगों की सम्मिलित चेतना के जरिए स्वयं के बारे में सचेत होता है। इस व्यवस्था की कोई महत्वपूर्ण कड़ी यदि टूट जाती है तो मृतप्राय स्थिति हो जाती है। हमारे समाज की यही स्थिति है। जो लोग हमारे देश को आजाद कराने की जोरदार कोशिशें कर रहे हैं, उनमें भी कुछ ऐसे लोग हैं जिनकी निगाह जहां गंभीर स्थिति मौजूद है, जहां पक्षाघात के लक्षण स्पष्ट हैं, समाज के उस हिस्से तक नहीं पहुंचती। दौरा पड़ने पर वे चिल्लाते हैं : कुछ किया जाना चाहिए, लेकिन उनके हाथ उनके गले का साथ नहीं देते। देश के लिए हमारे प्रयास में देशवासी बाहर ही छोड़ दिए गए हैं। इसके हम इतने आदी हो गए हैं कि इसके विराट मखौल के प्रति भी हम सचेत नहीं होते। मुझे एक उदाहरण देने की इजाजत दीजिए।

हमारे देश में आधुनिक शिक्षा नामक एक चीज प्रकट हुई है। इसके नाम पर यत्रतत्र स्कूल और कालेज कुकुरमुत्तों की तरह सिर उठाकर खड़े हो गए हैं। इनका गठन इस तरह किया गया है कि इनका प्रकाश कालेजव्यवस्था के बाहर मुश्किल से पहुंचता है। सूरज की रोशनी चांद से टकराकर जितनी निकलती है, इनसे उससे भी कम रोशनी निकलती है। एक परदेशी भाषा की मोटी दीवार इसे चारों ओर से घेरे हुए है। जब मैं अपनी मातृभाषा के जरिए शिक्षा के प्रसार के बारे में सोचता हूं तो उस विचार से साहस क्षीण होता है। घर की चहारदीवारी में बंद दुलहिन की तरह यह भयभीत रहती है। बरामदे तक ही इसकी स्वतंत्रता का साम्राज्य है : एक इंच आगे बढ़ी कि घूंघट निकल आता है। हमारी मातृभाषा का राज प्राथमिक शिक्षा तक सीमित है : दूसरे शब्दों में, यह केवल बच्चों की शिक्षा के लिए उपयुक्त है, मानो यह कि जिसे कोई दूसरी भाषा सीखने का अवसर नहीं मिला, हमारी जनता की उस विशाल भीड़ को शिक्षा के उनके अधिकार के प्रसंग में बच्चा ही समझा जाएगा। उन्हें कभी पूर्ण विकसित मनुष्य नहीं बनना है और तब भी हम प्रेमपूर्वक सोचते हैं कि स्वराज मिलने पर उन्हें संपूर्ण मनुष्य के अधिकार हासिल होंगे।

जापान, फारस, तुर्की और मिस्र, किसी नवजाग्रत देश में शिक्षा के मामले में देश की बहुसंख्यक जनता की बुभुक्षा का ऐसा साम्राज्य मौजूद नहीं है। लगता है जैसे कि मातृभाषा कोई अपराध हो, ईसाई ग्रंथ जिसे आदिम पाप कहते हैं, वैसा कोई पाप हो। जनता के लिए उनकी मातृभाषा में शिक्षा के जरिए ज्ञान की चतुर्दिक पूर्णता हमारी कल्पना की सीमा से बाहर पड़ती है। यह कहना कि अंग्रेजी भाषा का माध्यम छोड़कर शिक्षा की पर्याप्त योग्यता संभव नहीं यह कहने के ही बराबर है कि अंग्रेजी होटल के प्रबंधक को छोड़कर और किसी से पुष्टिकारक भोजन नहीं मिल सकता। इस संबंध में यह याद

रखना चाहिए कि जापानी विश्वविद्यालयों ने संपूर्ण आधुनिक ज्ञान जापानी भाषा में ग्राह्य बनाकर ही देश की शैक्षिक व्यवस्था को गहन और वास्तविक बनाया। कारण यह है कि जापानी शिक्षा का मतलब संपूर्ण देश की शिक्षा समझता है, केवल तथाकथित सभ्रांत लोगों के अल्पसंख्यक समुदाय की शिक्षा नहीं। अब जो भी मुंह से बोलें लेकिन देश का मतलब हम संभ्रांत लोगों का देश ही समझते हैं। आम लोगों को हम निम्न श्रेणी का कहते हैं : यह परिभाषा हमारी मज्जा तक में प्रवेश कर गई है। इन तथाकथित निम्न वर्गों के लिए सभी पैमाने छोटे ही बनाए गए हैं। उन्होंने स्वयं इसके लिए अपनी मौन सहमति दे दी है। उनमें किसी भी बड़ी चीज को मांगने का साहस नहीं रह गया है। वे संभ्रांत लोगों की छाया तले घूमते फिरते हैं : उनकी उपस्थिति अस्पष्ट है और फिर भी बहुसंख्या का निर्माण वे ही करते हैं; दूसरे शब्दों में, देश की जनसंख्या का सत्तर प्रतिशत अंधेरे में डूबा है। सभ्य समाज उन्हें साफ-साफ देख भी नहीं पाता, विश्व समाज की तो बात ही छोड़ दीजिए।

राजनीतिक बहसों की गरमी में हम जो भी कहें, अपने राष्ट्रीय अभिमान की अभिव्यक्ति में हम जितना भी जोर से चीखें, सक्रिय राष्ट्रीय सेवा के प्रति हम अत्यंत उदासीन रहते हैं, क्योंकि हमारा देश प्रकाश से हीन है। मानव स्वभाव में निहित कंजूसी के कारण जिन्हें हमने नीचा रख छोड़ा है, उनके प्रति अन्याय से हम बच ही नहीं सकते। समय-समय पर उनके नाम पर हम पैसा इकट्ठा करते हैं, लेकिन उनके हिस्से में शब्द ही आते हैं, पैसा तो अंततः हमारी पार्टी के ही लोगों के पास पहुंचता है। संक्षेप में, जिनके पास बुद्धि, शिक्षा, समृद्धि और सम्मान है, हमारे देश के उस अत्यंत छोटे हिस्से, पांच प्रतिशत और आबादी के अन्य पंचानवे प्रतिशत के बीच की दूरी समुंदर से भी अधिक चौड़ी है। हम एक ही देश में रहते हैं लेकिन एक ही देश के निवासी नहीं हैं।

बचपन में हमारे कमरों में जो लैंप जलाया जाता था उसमें एक हिस्सा थोड़ा सा तेल और दूसरा हिस्सा बहुत सा पानी होता था। पानी वाला हिस्सा नीचे रहता था और तेल वाला हिस्सा ऊपर रहता था। लैंप बहुत धीमा जलता था और धुआं बहुत छोड़ता था। पुराने समय में स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही थी। ऊंचे और नीचे के लोगों में इसी तरह का संबंध था। हालांकि उनकी स्थिति समान नहीं थी तो भी दोनों मिलकर एक ही लैंप जलाए रखते थे। दोनों के पास एक ही अखंड आधार पात्र था। आजकल तेल और पानी वाले हिस्से अलग-अलग दिशाओं में बंट गए हैं, तेल वाले हिस्से में रोशनी का बहुत थोड़ा प्रावधान है, पानी वाले हिस्से में तो रोशनी जलती ही नहीं।

केवल अपने ही दुर्भाग्यशाली देश में हम पाते हैं कि एक समय मिट्टी का जो दीया जलाया गया था आज उसकी भी रोशनी गुल कर दी गई है। आज के हमारे डिग्रीधारक

जब गांव के बारे में सोचते हैं तो कुछ न करके भी संतोष का अनुभव करते हैं। जब तक हमारा दृष्टिकोण ऐसा ही बना रहेगा तब तक गांव के लोग हमारे लिए अजनबी बने रहेंगे, दरअसल वे अजनबी से भी कुछ अधिक रहेंगे क्योंकि स्कूलों-कालेजों में जो थोड़ी सी भी शिक्षा हम पाते हैं वह यूरोपीय है। उस शिक्षा की सहायता से हमें यूरोपियों को समझने और यूरोपियों को हमें समझने में आसानी होगी। इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी के विचार हमें सहज सुलभ होंगे, उनकी कविता, कहानी और नाटक समझने में हमें उलझन न होगी, यहां तक कि हमारी इच्छाएं और गतिविधियां भी अधिकतर उन्हीं की नकल होंगी। जो लोग अब भी अदृश्य देवताओं और देवियों और आत्माओं के अंधविश्वासपूर्ण भय से कांपने लगते हैं और तांत्रिकों और पुजारियों के ही संरक्षण में बढ़ते हैं, उनसे हालांकि हम अभी ऊंचे नहीं उठ पाए हैं लेकिन उनसे दूर जरूर चले आए हैं। हममें उन्हें जानने की कोई सच्ची उत्सुकता भी नहीं दिखाई देती।

हमारे कालेजों में जो लोग अर्थशास्त्र और नृतत्वशास्त्र की पढ़ाई करते हैं वे हमारे पड़ोसी ग्रामीणों के तौर तरीकों, रीतिरिवाजों और सामाजिक संगठन के बारे में यूरोपीय विद्वानों द्वारा बताए जाने की प्रतीक्षा करते हैं। वे निम्नवर्गीय हैं, जो थोड़ी सी मानवीय सहानुभूति हममें बची है उसकी रोशनी में वे हमारे लिए अदृश्य हैं। पश्चिम के नाना प्रकार के 'आंदोलनों' का इतिहास हमारे शिक्षित वर्गों ने आद्यंत देख डाला है लेकिन इस बात से कतई अनभिज्ञ हैं कि हमारी जनता में असंख्य आंदोलन होते रहे हैं। जानने की कोई उत्सुकता नहीं क्योंकि परीक्षा पास करने के लिए नंबर जुटाने में इसका कोई उपयोग नहीं है। जनसमुदाय में आउल और बाउल की तरह के कई धार्मिक संप्रदाय हैं और उनसे नफरत नहीं करनी चाहिए। कई मामलों में उनमें ऊपरी तबकों के नए ढर्रे के धार्मिक प्रयासों से अधिक गहराई है। इन संप्रदायों में जो साहित्य भी लिखा गया, वह सम्मान और संरक्षण के काबिल है। लेकिन अब यह है कि वे निम्नवर्गीय जन हैं।

सभी देशों में नृत्य को एक कला समझा जाता है और अभिव्यक्ति के एक माध्यम के रूप में उसे सम्मान प्राप्त है। चूंकि ऊपरी तबकों से यह गायब हो गया है इसलिए हम मानकर चलते हैं कि नृत्य हमारे यहां मौजूद नहीं। बहरहाल, जनसमुदाय में नृत्य अनेक रूपों में मौजूद है लेकिन अब वे निम्नवर्गीय हैं। इसलिए जो कुछ उनके पास है वह हमारा नहीं है। अगर यह सौंदर्य और निपुणता से भरा भी है तो हम इस पर शर्मिंदा होते हैं। संभवतः ये लोककलाएं धीरे-धीरे खत्म हो रही हैं; लेकिन हम इन्हें याद करने योग्य भी नहीं समझते क्योंकि हम उनके सर्जकों को अपने में से नहीं मानते।

कवि ने कहा है : 'अपने ही देश में अजनबी तुम हो गए हो।' वस्तुतः उसका मतलब है कि हम विदेशी शासन के मातहत हैं। और अधिक सचाई और मजबूती के

साथ कहा जा सकता है कि हम अपने देश में अजनबी हैं, अर्थात जिस देश में हमारी प्रजाति के बहुसंख्यक लोग रहते हैं, वह देश हमारा नहीं रह गया है। वह देश हमारे लिए अदृश्य और अबूझ हो गया है। जब हम जोर से अपने देश को माता कहते हैं तो भीतर ही हम जानते हैं कि वह माता केवल कुछ बिगड़े बच्चों की मां है। क्या हम इसी तरह रहेंगे? क्या मतदान का अधिकार ही हमारा अंतिम मोक्ष होगा?

हृदय की इस व्यथा के साथ, देशवासियों की गहरी उदासीनता के बीच और सभी लोगों की सहायता से वंचित होकर हम लोगों ने इन कुछ ग्रामीणों में जीवन जाग्रत करने के लिए हुताग्नि प्रज्वलित की है। जो लोग कुछ भी नहीं करते वे भी घृणापूर्वक पूछ सकते हैं : 'इससे किसका भला होगा?' हमें मानना होगा, तेंतीस करोड़ लोगों की जिम्मेदारी उठाने में हम सक्षम नहीं हैं। हम कल्पना में भी नहीं सोचते कि अपनी गतिविधियों के आयामों की गिनती का हमें कभी घमंड होगा, लेकिन इसकी सचाई का गर्व तो हमें करने दीजिए। हमारी आत्मा कभी इतनी दरिद्र न हो कि हम कह सकें कि ग्रामीण लोगों के लिए थोड़ा भी बहुत है। टुकड़े फेंककर उनका असम्मान मत प्रदर्शित कीजिए। हमें 'श्रद्धापूर्वक दान' करना चाहिए। ईश्वर करे ग्रामीणों के लिए अपने को न्योछावर करने में श्रद्धा की हममें कभी कोई कमी न हो।

6. शिक्षा का प्रसार

प्राचीन सभ्यता के चिह्नों की खोज करते हुए मध्य एशिया घूमने गए यात्रियों का वास्ता अनेक समृद्ध शहरों के खंडहरों से पड़ता है जो बालू के ढेरों के नीचे दबकर पूरी तरह खत्म हो गए हैं। कभी इन जगहों पर पानी इकट्ठा रहता रहा होगा और सूखी नदियों के पथ तो अब भी खोजे जा सकते हैं। कौन कह सकता है कि कब और कैसे जमीन की नमी सूख गई, एक-एक कदम आगे बढ़ते हुए रेगिस्तान की लपलपाती जीभ ने जीवन को चाट डाला और हरियाली के अंतिम निशान भी रेत में ढंक गए, यहां तक कि सब कुछ पूरी तरह असीम भूरेपन के नीरस उजाड़ खंड में बदल गया? असंख्य गांवों से निर्मित हमारे देश की मानसिक भूमि की नमी के स्रोत भी उसी तरह सूख रहे हैं। इसके निचले स्तरों में नमी लंबे समय से बनी हुई है और अब भी मौजूद है लेकिन शुष्क हवाओं की गरम आंच से यह धीरे-धीरे भाप बनकर उड़ जाएगी, यमदूत की तरह रेगिस्तान इसके आरपार फैल जाएगा, उसकी अतृप्त प्यास अजगर की तरह हमारी मातृभूमि के शरीर को फंदे में लपेटकर उसके प्राण हर लेगी और फिर हमारी मातृभूमि का ढांचा जिनसे बना है उन गांवों को एक-एक अंग करके निगल जाएगी। इस घातक आक्रमण ने अभी हमारा ध्यान आकर्षित नहीं किया है। कारण कि अपनी एकांगी शिक्षा के चलते हमारी आंखों में देश को उसकी संपूर्णता में विस्तृत निगाह से देखने की क्षमता रह नहीं गई है और उनका सारा ध्यान कोल्हू के बैल की निगाह की तरह केवल एक बिंदु यानी शिक्षित वर्गों पर केंद्रित है।

एक समय मैं बंगाल के गांवों के निकट संपर्क में लंबे दिनों तक रहा। गरमियों में मेरी आंखों के सामने एक करुण दृश्य दिखाई पड़ता था। पड़ोस के एकमात्र पोखर में कीचड़ सतह पर उभर आता था, नदी का पानी नीचे चला जाता था, इसके किनारे की मिट्टी में दरारें पड़ जाती थीं और इसके और गांव के बीच जलती हुई रेत का लंबा इलाका था। मैंने गांव की औरतों को पीने का पानी भरने के लिए पीतल के घड़े लिए इस थकाऊ दूरी को पैदल पार करते देखा, उनकी आंखों के आंसू से मिलकर पानी भी खारा हो जाता था। जब कभी आग लगती और उनके झोंपड़े जला देती तो उसे बुझाने के लिए एक बूंद पानी न मिलता। इतना ही नहीं जब हैजा फैल जाता तो उसका फैलाव रोकना उनके लिए असंभव हो जाता।

यह तो एक पहलू है। दूसरा और मार्मिक था जिसे देखकर मुझे कष्ट होता था। सारे दिन काम करके शाम को किसान घर लौटते थे। विस्तृत खेतों पर रात राज करती और यहां वहां बांसों के झुरमुट में गांव अंधेरे की चादर ओढ़कर पड़ जाते जैसे गहन अंधकार में लिपटे द्वीप हों। इन्हीं स्थानों से आपको खोल की आवाज कीर्तन के गीत के किसी पद के साथ सुनाई पड़ती जिसे हजारों बार 'बिना मद्धिम पड़े या अनुताप के स्वर में' एकरस ढंग से दोहराया गया है। बरस-दर-बरस घोर गरीबी में लोगों ने अपने दिन बिताए, वे अपना थकाऊ अस्तित्व कैसे ढो पाते यदि उन्हें कभी-कभी इस बात का अहसास न होता कि उनके हाड़तोड़ शारीरिक श्रम के परे मुनष्यों में बुद्धि नाम की भी एक चीज होती है जहां उनके अपमान का दंश उन्मूलित हो जाता है, जहां कम-से-कम एक क्षण के लिए वे सांस ले सकते हैं, जहां अपने दुःखी जीवन की दासता से भागकर वे स्वर्ग में शरण पा सकते हैं? उन्हें यह सांत्वना प्रदान करने के लिए एक समय समूचे समुदाय ने व्यापक प्रबंध कर रखे थे। उन्होंने ऐसा इसलिए कर रखा था क्योंकि इस जनसाधारण को वे अपने ही शरीर का अंश मानते थे। वे जानते थे कि यदि ये लोग पतित होते हैं तो समूचा राष्ट्र पतित होगा। लेकिन अब उनकी मदद करने को कोई नहीं है जो उनकी दिमागी भूख को शांत करे और उनका उपवास तोड़े। कोई उनसे दोस्ती नहीं गांठता इसीलिए उन्हें जो भी सांत्वना मिलती है, वह अतीत में इकट्ठा किए गए साधनों की तलछट में से ही प्राप्त होती है। कुछ ही समय में ये भी खत्म हो जाएंगे, दिन भर की मेहनत-मशक्कत के बाद अपने थके पांव घसीटते हुए जब वे घर आएंगे तो पाएंगे कि मानसिक खुराक का उनका भंडार खत्म हो चुका है। उदास झोंपड़ों में कोई रोशनी नहीं जलेगी और वहां से स्वर्ग तक पहुंचने वाले गीतों के स्वर नहीं उठा करेंगे। बांसों के झुरमुट में पहले की तरह ही झींगुरों की आवाज आएगी, आसपड़ोस की झाड़ियों और जंगलों में रात्रि के प्रत्येक प्रहर में सियारों की हूक सुनाई देती रहेगी और ठीक उसी समय शहरों में जो लोग अपनी शिक्षा की शेखी बघारते रहते हैं वे बिजली के बल्बों की चकाचौंध रोशनी में सिनेमा के लिए भीड़ लगाया करेंगे।

एक तरफ तो हमारे देश की शिक्षा की प्राचीन व्यवस्था काम करना बंद कर चुकी है। फलतः शिक्षा की जो धारा स्वर्गिक प्रपात की तरह देहाती इलाकों तक पहुंचती थी, वह हमेशा के लिए सूख चुकी है। दूसरी तरफ इसकी जगह नई शिक्षा की जो धारा बहाई गई, उसका मुख लोगों के किसी निश्चित हिस्से का ध्यान दिए बगैर समग्र जनसमुदाय की ओर नहीं घुमाया गया। यह पत्थर की चट्टानों से बंधे पोखर की तरह कुछ ही जगहों पर सीमित रह गई। जो तीर्थयात्री यह जल पीना चाहते हैं उन्हें वहां बैठे पुजारियों को फीस की भेंट चढ़ानी पड़ेगी और तब भी दूर से ही एक घूंट मात्र भर सकते हैं। अनेक

मनाहियों से उसका बाड़ा बनाया गया है। गंगा जिस नाम से स्वर्ग में जानी जाती है उस मंदाकिनी का सूक्ष्म शरीर तो वस्तुतः शिव की अस्तव्यस्त, उलझी जटाओं में छिपकर हमारे लिए अगोचर हो गया है लेकिन तब भी उसका जल उनकी अलकों से छूटकर जब जमीन पर आता है तो मर्त्य जगत के द्वार पर सबकी धारा के रूप में गंगोत्री से प्रवाहित होता है, कभी अपने दान को वह सीमित नहीं करती, बल्कि हमेशा अपने पवित्र जल से हमारे बरतनों को भरपूर भरकर आनंद पाती है। लेकिन पश्चिम से आयातित हमारे देश में प्रचलित आधुनिक शिक्षा किसी मायने में उसके जितनी उदार नहीं है। दक्षिणीय लोगों को छोड़कर बाकी सबके लिए वह अदृश्य है, केवल उन्हीं के सामने देवी के अपने विशेष रूप में प्रकट होती है, सामान्य लोगों के लिए दृष्टिगोचर कोई रूप वह धारण नहीं करती। इसीलिए जो लोग अंग्रेजी शिक्षा के गुह्य मार्ग से परिचित हो चुके हैं, वही उसकी पूजापद्धति के विशेषज्ञ हैं। उन्हें लगता है कि उनका दिमाग सामान्य लोगों के स्तर से भिन्न स्तर पर संचालित होता है। 'शिक्षित वर्गों' को अलग वर्ग के बतौर समझना, मौजूदा जातियों के भीतर ही नए अछूतों का जन्म, वर्तमान काल में हमारे देश में प्रचलित सबसे गंदी जाति व्यवस्था है।

अंग्रेजी घूंघट में छिपे ज्ञान से अपने आपको जोड़ने में हमारा मस्तिष्क झिझकता है। जिस तरह के शैक्षिक प्रशिक्षण से हम गुजर चुके हैं, हममें से अधिकांश द्वारा अर्जित ज्ञान इसीलिए उसके अनुरूप नहीं है। यह हमारे वातावरण से अलग खड़ी कोई चीज है। हमारे घर और हमारे स्कूल के बीच ट्राम चलती रहती है लेकिन हमारा दिमाग इतनी दूर यात्रा करने से इनकार कर देता है। आम तौर पर देश आधुनिक स्कूल के बाहर मौजूद है। अनेक कारणों से उनके बीच कोई संगति नहीं और नाम लेने भर का भी सहयोग इन दोनों में नहीं है। इसी विभाजन के कारण हममें से अधिकांश की भाषा और विचारों में स्कूल के बच्चों जैसी अपरिपक्वता है। हम अब भी नोटबुक के गुलाम हैं, हममें कोई बौद्धिक साहस नहीं और हम रूढ़ि के संकीर्ण मार्ग पर एक-एक कदम सावधानीपूर्वक केवल रेंग ही सकते हैं। आधुनिक शिक्षा और राष्ट्रीय मानस में साझेदारी लाने के लिए अब तक कुछ नहीं किया गया है। यह मामला बहुत कुछ उस दुलहिन जैसा है जिसकी ससुराल नदी के दूसरे किनारे पर बालुका तट के पार है, इसीलिए वह अब भी अपने पिता के घर ही पड़ी हुई है। पार कराने वाली नाव का क्या हुआ?

इस खाड़ी को पार करने के लिए हमें साहित्य नाम की एक डोंगी पकड़ा दी जाती है। यह सही है कि आधुनिक बंगला साहित्य आज के युग की जरूरत और उसकी उपज है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इसके जरिए हमारा मस्तिष्क आधुनिक ज्ञान के संपर्क में आया है, लेकिन समंदर पार से यह वहां उपलब्ध संपूर्ण भोज्य सामग्री आयातित करके

नहीं लाता। विज्ञान जो बीसवीं सदी में विविध रूपों में मनुष्य की शक्तियों को प्रयोग में ला रहा है और प्रतिदिन ब्रह्मांड के रहस्यों के नए द्वार खोलता जा रहा है उससे बंगला साहित्य का मुश्किल से कोई संपर्क बना है। हमारे लिए वह मस्तिष्क जो चिंतन करता है, जो बहिर्मुखी है, जो सिद्धांत को व्यवहार से जोड़ता है वह तो कहीं अतीत में पड़ा हुआ है जबकि वह मस्तिष्क जो महसूस करता है, जो कला और भावना के क्षेत्र में गहरे उतरना पसंद करता है उसने उस भोजन के कमरे के इर्दगिर्द चक्कर लगाना शुरू कर दिया है जहां आजकल उसके लिए प्रचुर भोज्य सामग्री रखी हुई है। एकदम स्वाभाविक है कि सबसे पहले यह उस कोने को सूंघने का इच्छुक है जहां शराब मुफ्त बंट रही है और जहां की हवा भी अंगूर की मादक गंध से मदमत्त है।

बंगला साहित्य तकरीबन संपूर्णतः कथा, कविता, और नाटक से बना हुआ है। इसी का अर्थ है कि वहां भावुकता की दावत का ही इंतजाम है, बौद्धिक शक्ति के प्रदर्शन का नहीं। बहरहाल, पश्चिमी संस्कृति अनेक मानसिक शक्तियों का जबरदस्त गठजोड़ है। वहां मानवता एक साथ अपने शरीर, अपने दिमाग और अपनी आत्मा को व्यस्त रखती है। इसीलिए वहां मांग के साथ प्रचुर आपूर्ति भी है। हो सकता है इस बरगद की कुछ शाखाएं तूफान ने तोड़ डाली हों, कुछ को कीड़े खा गए हों, कुछ वर्षों तक इसे सूखे की मार भी झेलनी पड़ी हो लेकिन कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जंगल के राजा ने अपना स्वास्थ्य और ओज बनाए रखा है। ठीक इसी तरह पश्चिमी मस्तिष्क की ओजस्वी सक्रियता बनाए रखने के लिए विज्ञान, शिक्षा और साहित्य मिले रहे हैं और इनमें से प्रत्येक में होने वाली प्रगति के साथ मस्तिष्क की व्यावहारिक काम करने की क्षमता लगातार बढ़ती गई है।

हमारे साहित्य में भावना या कला प्रमुख तत्व है। इसलिए नकल के माध्यम से जहां कहीं एक तरह का स्वेच्छाचार या नैतिक अनाचार प्रवेश करता है, इसके जहर से साहित्य का समूचा शरीर सांघातिक रूप से संक्रमित हो जाता है और हमारी कल्पना तक में ऐसा उबाल पैदा होता है कि फिर अस्वास्थ्यकर लंपटता फैल जाती है। मजबूत शारीरिक जीवनी शक्ति के अभाव में छोटी सी खरोंच भी गहरा नासूर बन जाती है। हमारा देश इसी खतरनाक स्थिति में है। जब हम पर इसका दोष डाला जाता है तो हम दृष्टांत रूप में पश्चिमी समाज का उदाहरण देते हैं और जोर देकर कहते हैं कि यह प्रवृत्ति आधुनिक सभ्यता की ताजातरीन अभिव्यक्ति है। लेकिन सावधानीवश हम यह कभी नहीं बताते कि इसी के साथ आधुनिक सभ्यता में कठोर चिंतन के फलस्वरूप पैदा हुई एक ओजस्वी और बहुमुखी सार्वभौमिकता भी मौजूद है जो उसके सक्रिय पुंसत्व का रहस्य है।

जब मैं गांवों में रहता था तो साधु संन्यासी के रूप में घूमते मनुष्यों से पाला पड़ता था। उन्हीं को देखकर यह शिक्षा मिली कि अकसर अनर्गल व्यभिचार ईश्वर के प्रति भक्ति की चादर ओढ़े रहता है। इसके पीछे धर्म की सहमति रहती है। इन्हीं लोगों ने मुझे बताया कि शहर में भी भूमिगत रूप से उनका भ्रष्टाचार जारी रहता है जहां उनके शिष्यों और श्रद्धालुओं का विस्तृत जाल फैला हुआ है। चूंकि यह नपुंसक कामुकता, दैहिक सुख के पीछे लालचपूर्वक जीभ लटकाए घूमना और धार्मिक आवरण में यह छद्मावरण, हमारे बीच काफी प्रचलित है, प्रधानतः इसी कारण से हमारे समाज और साहित्य में उन तत्वों की कमी है जो उच्च विचार और बौद्धिक अध्यवसाय के साथ मिलकर दिमाग में उत्कट प्रश्नाकुलता के भाव को जीवित रखते हैं। इसी से कोई अत्यंत कठिन सर्वेक्षण और शोध का काम कर पाता है।

कम से कम बंगला साहित्य को हम इस स्थिति के लिए दोषी नहीं ठहरा सकते। हमारे साहित्य पर वस्तुगत तत्व और व्यावहारिक उपयोगिता के अभाव का दोषारोपण आसान है लेकिन यह बताना आसान नहीं है कि इस गड़बड़ी को दुरुस्त कैसे किया जाए। रुचि के मामले में लोग स्वच्छंद हैं और किसी साहित्यिक कसौटी से परिचालित होना पसंद नहीं करते। कलात्मक साहित्य का आनंद अपने ढंग से कोई अपरिष्कृत रुचि का आदमी भी उठा सकता है। और अगर वह सोचता है कि इसके बारे में उसकी समझ सबसे आदर्श ढंग की है तो इसके बारे में कोई बहस करने की जुर्रत आपको फौजदारी अदालत तक भी ले जा सकती है। अनुभवहीनता और अनाड़ीपन के क्षेत्र से गुजरने वाले करमुक्त मार्ग पर दौड़ने के चक्कर में जो लोग कथा, कविता और नाटक के बाजार की कुशाग्र बुद्धि आलोचना का राजमार्ग छोड़ चुके हैं, कम से कम उनके साथ कुछ नहीं किया जा सकता। लेकिन जहां तक वैज्ञानिक ज्ञान का सवाल है जिसका भावुकता से कोई लेना देना नहीं, उस तक पहुंचने के लिए तो आपको कड़ी पहरेदारी वाले दरवाजों से गुजरना होगा, यह नहीं कि मैदान से होते हुए सर्वसुलभ किसी भी रास्ते पर चल दीजिए। जिन देशों पर समृद्धि और ज्ञान की देवी ने अनुकंपा की है, वहां विज्ञान के बाजार जाने वाली सड़कें लगातार ढाली जा रही हैं और उसके व्यापार के लिए नजदीक और दूर, देश और विदेश सभी जगहों से आवागमन जारी है। हमारे देश में भी ऐसी सड़कों के निर्माण में अब और देर नहीं की जानी चाहिए।

लेकिन जब तक दिमाग शिक्षित न हो तब तक कुछ नहीं किया जा सकता। साहित्य के जरिए शिक्षा को स्कूलों-कालेजों के बाहर फैलाया जा सकता है। लेकिन शिक्षा को उसकी संपूर्णता में प्रसारित करने के लिए केवल साहित्य को उसका वाहन नहीं बनाया जाना चाहिए बल्कि उन सड़कों को भी आसानी से पहुंचने योग्य बनाना चाहिए जिनसे होकर

यह जनसाधारण के द्वार तक पहुंचेगी। इस आपातकाल में मदद के लिए किस दोस्त को आवाज दूं क्योंकि आजकल दोस्तों का भी अभाव हो गया है? इसीलिए अपनी प्रार्थना के साथ मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय के दरवाजे पर आया हूं।

मानव शरीर के सभी हिस्सों से मस्तिष्क स्नायुतंत्र के जाल के जरिए जुड़ा हुआ है। विश्वविद्यालय को भी दिमाग की भूमिका अदा करनी चाहिए और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अपना संदेश पहुंचाने के लिए स्नायुतंत्र का निर्माण करना चाहिए। सवाल है कि कैसे किया जाए। उत्तर में मेरा प्रस्ताव है कि समूचे देश में सर्वावेशी परीक्षा का जाल बिछा देना चाहिए। व्यवस्था इतनी आसान और स्तर इतना व्यापक होना चाहिए कि जो लोग स्कूलों-कालेजों में दाखिल नहीं हैं वे भी अपनी इच्छा से और उत्साहपूर्वक परीक्षा के लिए चुनी गई पाठ्य पुस्तकों के विषयों पर महारत हासिल कर सकें। विश्वविद्यालय को प्रत्येक जिले में परीक्षा केंद्र स्थापित करना चाहिए ताकि जो औरतें सड़क पर नहीं निकल पातीं उन्हें, और जिन पुरुषों को विभिन्न कारणों से स्कूलों-कालेजों में प्रवेश नहीं मिल सका, उन्हें भी अपने आराम के क्षणों में अपने ही प्रयासों से अज्ञान का धब्बा मिटाने में मदद मिल सके। विश्वविद्यालय की डिग्री हासिल करने के लिए किसी को भी एक साथ कई विषय पढ़ने होंगे, लेकिन इस मामले में बहुतायत का थोपा जाना जरूरी नहीं। अक्सर किसी किसी को एक विशेष विषय में ही अभिरुचि होती है। केवल उसी विषय में अपनी कुशलता दिखाकर वह समाज में एक विशेष स्थान हासिल कर सकता है और मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता जिसके चलते उसे इस लाभ से वंचित कर दिया जाए।

यदि विश्वविद्यालय अपने प्रभावक्षेत्र का विस्तार अपनी अनुकंपा प्राप्त स्कूल-कालेजों के ज्ञानपीठों से बाहर निकलकर करता है तभी यह संभव होगा कि बंगला में प्रभूत मात्रा में पाठ्य पुस्तकें छापी जा सकें। अन्यथा जिन विषयों की चर्चा मैंने की है उनके सिलसिले में बंगला भाषा की दरिद्रता कभी दूर न होगी। अगर हमें उन विषयों में शिक्षित होने के लिए अंग्रेजी सीखना हमेशा जरूरी बना रहेगा जिन्हें आत्मसम्मान की रक्षा के लिए जानना जरूरी है तो हमारी मातृभाषा अपनी दरिद्रता के कारण हमेशा अपमानित अवस्था में बनी रहेगी। वे बंगाली जो बंगला छोड़कर और कोई दूसरी भाषा नहीं जानते क्या हमेशा अस्पृश्यता का अपमान बरदाश्त करते रहेंगे? एक समय ऐसा भी था जब अंग्रेजी स्कूलों के पहली कक्षा के बच्चे भी अपना बंगला अज्ञान स्वीकार करने में शर्मिंदा नहीं होते थे। हालांकि बेहतरी की दिशा में थोड़ा परिवर्तन हुआ है लेकिन अब भी यदि कोई बंगाली बालक बंगला के अतिरिक्त और कोई भाषा न जानने का दोषी पाया जाता है तो लज्जा से उसे अपना माथा झुका लेना पड़ता है। राजनीतिक क्षेत्र में स्वराज हासिल करने के

लिए हम हंसते-हंसते कठिन कष्ट झेल लेते हैं, यहां तक कि अपनी जान भी न्योछावर करने को तैयार रहते हैं लेकिन मुझे डर है कि यह मेरी धृष्टता होगी यदि मैं साफ-साफ कहूं कि अब तक शैक्षिक क्षेत्र में स्वराज हासिल करने की दिशा में हमने कोई उत्कंठा नहीं प्रकट की है। हमारे देश में अब भी ऐसे लोग हैं जो इस आधार पर इसका विरोध करने की हद तक जाते हैं कि बंगला में चलाए जाने पर शिक्षा अपना मूल्य खो देगी। जब पहली बार हम लोगों ने इंगलैंड जाना शुरू किया और आंग्लबंगालियत में काफी रम गए तब पत्नियों का समाज में साड़ी पहनकर जाना 'प्रतिष्ठा' की हानि समझी जाती थी। इसी तरह, अब भी बहुत से लोग सोचते हैं कि शिक्षा की देवी अगर साड़ी पहनकर निकलीं, तो हमारी 'प्रतिष्ठा' को चोट पहुंचेगी जबकि सच्चाई यह है कि इस वस्त्र सज्जा में हमारे घरों में घूमना फिरना उसके लिए आरामदेह होगा और संभव है यदि ऊंची एड़ी के जूते उसे पहनने पड़े तो हरेक कदम पर वह लुढ़कती हुई चले।

जब मैं अपेक्षाकृत युवा और उत्साही था, कभी कभी लोगों का मनोरंजन मैं अंग्रेजी साहित्य के संशोधित बंगला अनुवादों से किया करता था। हालांकि मेरे सभी श्रोता अंग्रेजी जानते थे फिर भी उन्होंने स्वीकार किया कि अंग्रेजी साहित्य के उद्धरणों के समूचे अर्थ जीवंत हो जाते थे जब उन्हें बंगला भाषा में व्यक्त किया जाता। वस्तुतः हमें दी जाने वाली आधुनिक शिक्षा का अधिकांश हमारे दिमाग में घुसने की जद्दोजहद में प्रवेशद्वार पर ही छूट जाता है, साधारणतया इसलिए कि इसकी वाहक अंग्रेजी है। अंग्रेजी भोजन के तरीकों में अनभ्यस्त कोई बंगाली बालक जब समुद्र पार की यात्रा करते हुए पी. एंड ओ. की नाव में खाने की मेज पर भोजन करने बैठता है तो हालांकि उसके सामने शानदार भोजन बिछा रहता है लेकिन क्योंकि भोजन और उसकी जीभ के बीच छुरियों और कांटों के माध्यम से गठबंधन होना है इसलिए अधबीच विघ्न पड़ जाने से अपने भूखे पेट की संपूर्ण मांग को संतुष्ट करने में उसे काफी कठिनाई झेलनी पड़ती है। शिक्षा की मेज पर भी वही दुर्भाग्य हमारा पीछा करता है—प्रावधान तो यहां सब कुछ का है लेकिन इसका बहुतेरा बीच में ही नष्ट हो जाता है। मेरे ये शब्द कालेजों के शैक्षिक भोज के विस्तृत इंतजाम के संदर्भ में हैं। लेकिन आज इस बात पर बहस नहीं हो रही; दरअसल मैं व्यापक जनशिक्षा के बारे में बात कर रहा हूं। सवाल शहरों में पाइप के जरिए शिक्षा जल के वितरण का नहीं है, बल्कि जहां ये पाइप नहीं पहुंचते सवाल उन स्थानों पर इसके वितरण का प्रबंध करने का है। और मातृभाषा में यह वितरण जिस नाली के जरिए किया जाना है अगर उसे पशुओं के खुरों से ज्यादा चौड़ा नहीं बनाया जाना है तो ज्ञान से वंचित असंख्य गांवों के असंस्कृत, बेकार लोगों के मस्तिष्क पर भगवान ही दया करेंगे।

दुःख से मेरा गला भरा हुआ है। जैसे प्यासा पक्षी अपने जलते होंठ ठंडे पानी की

बूंदों के लिए आकाश की ओर उठाए रहता है, उसी तरह मैं बंगाल के विश्वविद्यालय के सामने अपनी मातृभूमि के मामले की पैरवी कर रहा हूं, जिसकी मातृभाषा बंगला है। मेरी कामना है कि आपके 'गगनचुंबी' ऊंचे गुंबद के शिखर पर घिरे घने नीले बादल मंगलवर्षा की बौछार बनकर हमारे चरागाहों और बगीचों पर बरस जाएं ताकि उनमें हरे पत्तों और खुशनुमा फूलों की सौंदर्याभा बिखर जाए, कि इससे आपकी मातृभूमि का अपमान घुलकर बह जाए, कि बंगाल के शुष्क और ऊसर समान दिमाग से होकर आधुनिक शिक्षा का हरहराता प्लावन उठे, कि उसके दोनों किनारे सदियों की अपनी नींद से जागकर, पूर्ण सचेत हो उठें, कि सभी घरों में खुशी की किलकारियां गूंज उठें।

7 आश्रम शिक्षा

समय की इस दूरी से किसी भी तरह ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में इस बात का अंदाजा लगाना मुश्किल है कि प्राचीन भारत में तपोवन कैसे होते थे। हमारे दिमागों और हमारे साहित्य में इसकी अमिट छाप अंकित है और वह है पवित्रता और मंगल कामना, भौतिक वस्तुओं के प्रति किसी ललक से हीन अबाध आनंद की छाप।

यद्यपि मैं आज की दुनिया में पैदा हुआ लेकिन यह छवि अपने अंतःकरण में अंकित किए रहा। एक समय था जब मैंने अपने समय की एक शैक्षिक संस्था में अपने सपनों के तपोवन को आकार देने के विचार के प्रति जबरदस्त खिंचाव महसूस किया।

तपोवन के केंद्र और हृदयस्थल के बतौर मैंने गुरु को देखा है। वह मनुष्य है, मशीन नहीं। वह सक्रिय मनुष्य होता है क्योंकि उसका मुख्य कार्यभार है मनुष्यता की, अपने लक्ष्य की प्राप्ति में लोगों की, मदद करना। अपने शिष्य के दिल और दिमाग का अपने ही तपःपूत जीवंत जल से बपतिस्मा करना वह अपना कर्तव्य समझता है। शिष्य उसके प्रत्यक्ष संपर्क से प्रेरणा ग्रहण करता है। सदा जाग्रत मस्तिष्क की यह निकटता ही आश्रम शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण तत्व होता है। यह महत्व अध्ययन के विषयों, तमाम तामझाम और पद्धति में नहीं निहित होता। चूंकि गुरु अपने आपको ही हर कदम पर मूर्त करता रहता है इसीलिए वह अपने आपको प्रचुरतापूर्वक प्रदान कर पाता है। लेने के आनंद की सिद्धि देने के आनंद में ही है।

एक बार मैं अपने एक जापानी दोस्त के घर ठहरा था। मेरा मेजबान उत्साहपूर्वक बागबानी करता था। वह अकसर कहा करता था : मैं पेड़ों और पौधों से प्यार करता हूं। प्रेम की मेरी शक्ति उनकी सत्ता में प्रवेश कर जाती है और फलों और फूलों के रूप में प्रकट होती है।

कहना न होगा कि उसकी बातें, विशेषकर मानव-आत्मा के नाजुक शिशु-अंखुओं की देखभाल करने वाले माली के लिए और उपयुक्त हैं। जब एक दिमाग दूसरे दिमाग से पूर्ण संगति में मिलता है तो परिणाम स्वतःस्फूर्त आनंद होता है। यह आनंद सृजनात्मक ऊर्जा का सहजात है। इसी विपुल आनंद का उपहार आश्रम की शिक्षा है। जो आनंद से रहित हैं और जो व्यक्ति केवल ड्यूटी बजाने के भाव से चालित हैं, उनका रास्ता अलग है। मैंने यह अनुभव किया है कि शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम अध्यापक और

छात्र के बीच इसी तरह का अबाध परस्पर निर्भरता का संबंध है।

मुझे ऐसा भी लगा कि जिस अध्यापक के भीतर का बालक सूखकर काठ हो चुका है, वह बच्चों की देखरेख के अयोग्य होता है। दोनों के बीच भौतिक निकटता तो होनी ही चाहिए, उनमें समानता और संबद्धता भी होनी चाहिए। यदि मैं एक सच्चे अध्यापक की तुलना नदी से करूं तो मैं कहूंगा कि इसके दोनों किनारों से आकर इसमें मिल जाने वाली मंद उपधाराएं इसकी पूर्णता में मदद तो कर सकती हैं लेकिन इसकी मुख्य धारा आदिम स्रोत से ही प्रवाहित होती है, उस मुख्य धारा को भारी भरकम चट्टानों में लुप्त नहीं हो जाना चाहिए।

जन्मजात अध्यापक वह आदमी होता है जिसके भीतर का आदिम बालक बच्चों की आवाज का तुरंत उत्तर देता है। जवानी के उल्लास की खुशगवार हंसी उसके कंठ की गहराइयों से फूट निकलती है। अगर बच्चे उसे अपनी ही प्रजाति का नहीं समझेंगे, अगर वे उसे प्रागैतिहासिक विशाल जंतु की तरह देखेंगे तो उसकी ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाने में कभी सक्षम न होंगे।

आम तौर पर हमारे अध्यापक अपनी वरिष्ठता या श्रेष्ठता प्रमाणित करने में ही परेशान रहते हैं जो किसी भी किशोर वस्तु से दूरी का ही दूसरा नाम है। अक्सर बेवजह अपने प्राधिकार को इस्तेमाल करने की इच्छा से यह पैदा होता है। अक्सर वे सजग रहते हैं अन्यथा बच्चों के बीच स्वतंत्रतापूर्वक, बलपूर्वक चुप्पी और सम्मान पैदा करने वाली चकाचौंध के बगैर घूमने से उनके गौरव का क्षय हो जाएगा। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते हैं, बच्चे फुसफुसाते हैं : चुप, चुप! इसी तरह एक पकी हुई शाखा और हरी टहनी के बीच रहने योग्य हृदय की एकता, पुराने और नए के बीच की संगति जिससे फूल और फल पैदा होते हैं, नष्ट हो जाती है। इसी तरह बच्चे के दिमाग की जीवंतता को प्रभावी रूप से बौना बना दिया जाता है।

एक बात और। बच्चे प्रकृति की दुनिया के सबसे करीबी पड़ोसी हैं। वे अपने लिए शांति किसी आराम कुर्सी में नहीं ढूंढ़ते। जब भी मौका मिलता है, वे अपना अवकाश पेड़ों की विस्तृत शाखाओं पर बिताते हैं। जीवन की आदिम ऊर्जा प्रकृति के हृदय में गहरे समाकर खामोश बैठी है। यही वह प्रेरक शक्ति है जो बच्चों के हृदय को परिचालित करती है। उन्हें कसने वाले बनावटीपन के पाश से वे क्षुब्ध होते हैं, जब तक कि बड़े लोगों द्वारा थोपी गई जड़ आदतें उन पर विजय नहीं प्राप्त कर लेतीं। प्राचीन काल के अरण्यवासी महात्माओं के हृदय में यही सर्वकालिक अमर शिशु निवास करता था। इसीलिए विज्ञान द्वारा सत्यापन की प्रतीक्षा किए बिना वे कह सके : सब कुछ जो है, जीवन से पैदा होता है और जीवन में ही स्पंदित होता है। यह कोई बर्गसां का सिद्धांत नहीं, यह

महान बालक का संदेश है। बच्चों के मस्तिष्क और शरीर को हृदय की, और ब्रह्मांड की लय पर धड़कने दीजिए, उन्हें जड़ शहर की गूंगी-बहरी पत्थर की दीवारों के बाहर खेलने-कूदने दीजिए।

और फिर आश्रम का दैनंदिन जीवन। मुझे कादंबरी का वर्णन याद है : 'तपोवन पर गोधूलि इस तरह उतर रही है जैसे ललछौंही गाय अपनी गोशाला की ओर लौट रही हो।' मुझे ध्यान आता है कि गायों की देखभाल और दूध दुहना, ईंधन और जलावन की लकड़ी ले आना, अतिथियों की सेवा करना और हवन वेदी का निर्माण करना, आश्रम के बच्चों के ये रोज-ब-रोज के काम थे। इस तरह के कार्यों की शृंखला के जरिए बालकों का जीवन अनवरुद्ध धारा की तरह बहता रहा होगा और तपोवन की संपूर्णता की मुख्य धारा से एकमेक हो जाता रहा होगा। जब भी आश्रमवासी अपने साथियों के साथ और सहयोग से अपने मामले निबटाते होंगे, उस प्रत्येक क्षण आश्रम उन्हें अपना ही निर्माण लगता होगा। इन तमाम वर्षों में सच्चे हृदय से मैंने सहयोग की इस सदा सक्रिय भावना के उदय की इच्छा की है।

मानसिक आलस्य हमारी रोज-ब-रोज की जिंदगी की कुत्सित और बेढंगी स्थिति में प्रतिबिंबित होता है। इस तरह की वैभवहीनता में असभ्यता निर्लज्जतापूर्वक उदित होती है। धनी समाज में आत्मा की इस दरिद्रता को भौतिक साजो-सामान की झूठी चमक के सहारे छिपाया जाता है, भोगविलास की सामग्री हृदय की दरिद्रता को छिपाने के लिए परदे का काम करती है। हमारा अंतर्निहित फूहड़पन धनी लोगों के घर में बाहरी और भीतरी हिस्सों के स्पष्ट विभाजन से अधिक किसी चीज में प्रकट नहीं होता।

बचपन से ही हमें सजग जिम्मेदारी निभाने का अभ्यस्त होना चाहिए जिसकी सामाजिक जीवन में हमसे मांग की जाती है। एक रास्ता जिससे हम यह अभ्यास कर सकते हैं, वह है अपने वातावरण को स्वास्थ्यकर, व्यवस्थित और सुंदर बनाने की आदत का परिष्कार। एक व्यक्ति की उदासीनता या उपेक्षा से समूचे समुदाय को कष्ट या नुकसान हो सकता है। अपने घरेलू जीवन-आचार में अकसर हम ध्यान के इस अभाव का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। सभ्य जीवन का आधार ही है समाज के प्रति जिम्मेदारियों का व्यक्ति द्वारा निर्वाह।

आश्रम में शिक्षा का एक मुख्य लाभ यह है कि यह हमारे दैनंदिन जीवन में सहकार के सिद्धांत के पुनर्जीवन का अवसर प्रदान करती है। इस अवसर का सर्वोत्तम लाभ हम उठा सकें इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा के प्रारंभिक चरणों में तमाम गैरजरूरी तामझाम से हम मुक्त रहें। यदि हम केवल भौतिक वस्तुओं से आप्लावित रहेंगे तो हमारी संवेदनाएं भोंथरी हो जाएंगी। सौंदर्य और व्यवस्था मानसिक संपदा हैं, इसलिए मस्तिष्क को न केवल

आलस्य और अनवधानता से मुक्त होना चाहिए बल्कि उसे भौतिक वस्तुओं के लोभ से भी आजाद होना चाहिए। जिस मात्रा में हम सजावट और सतहीपन छोड़ने में सक्षम होते हैं उसी मात्रा में सृजनात्मक लेखन का आनंद बढ़ता जाता है। बच्चों को बचपन के दिनों से ही आत्मनिर्भरता और आत्म सहायता के प्रशिक्षण की जरूरत होती है। हमारे देश में शिक्षा के इस पहलू की दुःखद उपेक्षा की जाती है। बच्चों को जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है, उसी की मदद से चीजों की खोज में सृजनात्मक आनंद का मजा लेने का अनथक प्रयास करने दीजिए। इसी के साथ उसे अपने लिए स्वास्थ्य, खुशी और समाज के लिए आराम बढ़ाने वाले कार्यों को इच्छापूर्वक संपादित करने में खुशी पाना सीखने दीजिए। इतने दिनों से यही इच्छा मैं पाले हुए हूं।

बच्चों की अपने लिए ही अपने आसपास के वातावरण को संगठित करने की किसी भी पहल को कुचल देने के लिए हम हमेशा तैयार रहते हैं। आत्मनिर्णय के ऐसे किसी भी विस्फोट को हम उपद्रव और निरादर समझते हैं। इसी तरह परनिर्भरता में वे शर्मिंदगी महसूस करना बंद कर देते हैं; भीख मांगने के मामले में भी वे संवेदनशील और बदमिजाज हो जाते हैं। उन्हें झगड़ा करने और दूसरों की गलतियां खोजने में असीम आत्मसंतोष मिलता है। आत्मा की यह अवनति चतुर्दिक प्रत्यक्ष है। इस शर्मनाक परिस्थिति से हमें छुटकारा पा लेना चाहिए।

पहले जब मैं अपने छात्रों के दैनिक जीवन से सक्रिय रूप से जुड़ा था, एक दिन वरिष्ठ छात्रों की ओर से एक सूचना मेरे पास पहुंची कि खाना परसते समय चावल से भरे धातु के बड़े बरतनों को फर्श पर घसीटना पड़ता है। निरंतर घर्षण से उनका तल्ला टूट गया है और फलस्वरूप खाने का पूरा कमरा गंदा हो जाता है। मैंने उनसे कहा : और आप मेरे पास आए हैं कि मैं इसका कोई इलाज बता दूं? क्या यह सीधी सी बात आपको नहीं सूझती कि यदि उन बरतनों के पेंदे में कोई गोल छल्लानुमा सहारा लगा दिया जाए तो धातु पत्थर के फर्श से सीधे रगड़ नहीं खाएगी? यह आप इसलिए नहीं सोच सके क्योंकि आपने यह मान लिया है कि आपको निष्क्रिय रहना और केवल भोजन ग्रहण करना है जबकि मेहनत और व्यवस्था करना दूसरे लोगों का काम है। यह अपमानजनक है।

शिक्षा के शुरुआती चरणों में सुविधाओं या तामझाम का अभाव कोई समस्या नहीं। इसके विपरीत, अपेक्षित यही है कि जीवन की शुरुआत में बच्चा सादगी से जीने की आदत सीख ले। लड़के को बहुत लाड़ करना या उसे सब चीजें एकदम उपलब्ध कराके संतुष्ट करना बच्चे को बिगाड़ देना है। अपनी प्रौढ़ावस्था की जरूरतें उस पर लादकर हम उसमें भौतिक वस्तुओं के प्रति लोभ पैदा कर देते हैं। जब बाहरी सहायता अप्रत्यक्ष

होती है तब शरीर और मस्तिष्क की प्राकृतिक ऊर्जा का उचित प्रयोग संभव होता है। इसी से सृजन और सुधार की पहल को प्रेरणा मिलती है। जो इस प्रेरणा का उचित उत्तर नहीं देते उनके भीतर कुछ कूड़ा-करकट संभवतः इकट्ठा हो जाता है। आत्म सहायता आविष्कार की जननी है। जो आदमी अपना साम्राज्य खुद निर्मित कर सकता है, वही सचमुच स्वयं का राजा और मालिक होता है। हमारे देश के नन्हे-मुन्ने आरंभिक वर्षों से ही आत्मनिर्भरता की इस आदत से हीन बना दिए जाते हैं। वे कच्ची मिट्टी के ऐसे लोंदे की तरह होते हैं जिन्हें मजबूत हाथों द्वारा दूसरों के कहे मुताबिक आकारों में दबाकर ढाल दिया जाए।

इस संबंध में मुझे और भी कुछ कहना है। उष्ण कटिबंधीय देशों की सामान्य शिथिलता के कारण या अन्य किन्हीं कारणों से हमारे मानसिक ढांचे में जिज्ञासा का शोचनीय अभाव होता है। एक समय अमरीका से मैं एक पवनचक्की ले आया। इसे स्कूल के कुएं में स्थापित किया गया, इस आशा से कि स्कूल के बच्चों में इस विशाल मशीन को काम करते देखने की स्वस्थ जिज्ञासा पैदा होगी। बहरहाल, उनमें से बहुत कम को कोई वास्तविक रुचि पैदा हुई। उन्होंने इस वस्तु को बिना किसी सवाल के यों ही ग्रहण कर लिया, जैसे कि किसी गंभीर गवेषणा का कोई अर्थ नहीं।

उदासीनता मस्तिष्क की एक किस्म की मौत है। जिन राष्ट्रों ने आज की दुनिया में सर्वत्र अपनी शक्ति और प्रभाव का सिक्का जमाया है, उनकी जिज्ञासा वृत्ति अदम्य है। सूरज के नीचे जो कुछ भी है, वह सब वे जानना चाहते हैं। कोई देश इतना दूर नहीं है, कोई समय इतना दीर्घ नहीं है, कोई वस्तु इतनी प्रच्छन्न नहीं है कि उनके मस्तिष्क की पहुंच से बाहर हो जाए। उनके दिमाग की जीवंतता सब कुछ के ऊपर विजय प्राप्त कर लेती है।

मैंने ऊपर कहा है कि आश्रम में शिक्षा को संपूर्ण जीवन की शिक्षा होना चाहिए। हमारे देश में ऐसे असंख्य उदाहरण हैं कि जड़ दिमाग के लोग अकादमिक सफलता की सर्वोच्च चोटी पर पहुंच जाते हैं। हम अपने कालेजी स्नातकों को डिग्री तो जीतते देखते हैं लेकिन दुनिया जीतते नहीं देखते। बिलकुल आरंभ से मेरी इच्छा रही है कि मेरे आश्रम के बच्चे अपने आसपास के वातावरण से संपर्क स्थापित करने की उत्कट जिज्ञासा दिखाएं। उन्हें चारों तरफ से वस्तुओं को खोजना, शोधना और इकट्ठा करना चाहिए। इसी तरह मेरी इच्छा रही है कि जो अध्यापक आश्रम में पढ़ाएं, निरीक्षण करें, खोजें और प्रश्नाकुल हों, ऐसे लोग हों जो पाठ्यक्रम की किताबों से बाहर देख सकें और प्रत्यक्ष अनुभव में आनंद ग्रहण करें।

सबसे अंत में मैं वह बोलना चाहता हूं जिसे मैं सबसे महत्वपूर्ण मानता हूं और

इसीलिए बहुत ही दुष्प्राप्य समझता हूं : जिनमें सहिष्णुता की भावना होती है, केवल ऐसे लोग अध्यापक होने योग्य होते हैं। जिनका बच्चों से प्यार भरा लगाव होता है, उनमें धैर्य स्वभावतः आ जाता है। अध्यापकों को जिस अंतर्निहित गंभीर समस्या से जूझना पड़ता है, वह यह है कि उन्हें जिनको देखना है वे शक्ति और प्रभुता में उनकी बराबरी के नहीं होते। अध्यापक के लिए एकदम तुच्छ या बिना किसी कारण के या फिर वास्तविक की बजाए किसी काल्पनिक कारण के चलते अपने छात्रों के सामने धैर्य खो देना, उनकी खिल्ली उड़ाना, उन्हें अपमानित या दंडित करना एकदम आसान और संभव है। जो एक निर्बल अधीन राष्ट्र पर शासन करते हैं, उनमें न चाहते हुए भी गलत काम करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

उसी तरह ऐसे अध्यापक होते हैं जो बच्चों के ऊपर अपने प्रभुत्व का शिकार हो जाते हैं। जो शासन के अयोग्य होते हैं, उन्हें न केवल कमजोर लोगों पर अन्याय करते हुए कोई अपराध-बोध नहीं होता, बल्कि ऐसा करने में उन्हें एक खास तरह का मजा मिलता है। बच्चे अपनी मां की गोद में कमजोर, असहाय और अज्ञानी होते हैं। माता के हृदय में स्थित प्रचुर प्यार ही उनकी रक्षा की एकमात्र गारंटी होता है। इसके बावजूद हमारे घरों में इस बात के उदाहरण कम नहीं कि कैसे हमारे स्वाभाविक प्यार पर धीरज का अभाव और उद्धत प्राधिकार विजय प्राप्त कर लेते हैं और बच्चों को अनुचित कारणों से दंडित होना पड़ता है। जहां कहीं छात्रों को गंभीर रूप से दंड देने के उदाहरण मिलते हैं उनमें से अधिकांश मामलों में अध्यापक ही दोषी होते हैं। इसकी वजह यह है कि वे खुद कमजोर दिमाग के होते हैं, इसीलिए अकारण कड़े होकर अपने कर्तव्यों और कार्यभारों से छुट्टी पा लेते हैं।

शैक्षिक और उसी तरह राजनीतिक क्षेत्र में भी, आतंक के राज का मतलब है जो सत्ता में हैं उनकी परम अक्षमता। क्षमा करना बहादुरी का ही विशेषाधिकार है; अगर धीरज की कमी है तो नैतिक बल का अभाव निश्चित है।

8. कवि का स्कूल

मुझसे जो सवालात अकसर पूछे जाते हैं, उनसे ऐसा लगता है कि जनसमुदाय मुझसे, एक कवि से स्कूल खोलने का दुःसाहस करने की वजह पूछता है। मैं इसे स्वीकार करता हूं कि रेशम का कीड़ा जो रेशम बुनता है और तितली जो यों ही उड़ती फिरती है, ये दोनों एक दूसरे के विपरीत अस्तित्व के दो प्रकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लगता है, प्रकृति के लेखाविभाग में रेशम का कीड़ा जितना उत्पादन करता है, उसके हिसाब से उसके काम का नकदी मूल्य नोट होता रहता है। लेकिन तितली गैरजिम्मेदार प्राणी है। इसका जो भी महत्व है, वह इसके नाते दो हलके पंखों के साथ उड़ता रहता है, उसमें न कोई भार है, न ही कोई मूल्य। संभवतः यह सूर्य की रोशनी में छिपे रंगों के कुबेर को खुश करती रहती है, जिनका लेखाविभाग से कोई लेना देना नहीं और जो लुटाने की महान कला में पूरी तरह माहिर हैं।

कवि की तुलना उसी बुद्धू तितली से की जा सकती है। वह भी सृष्टि के सभी उत्सवी रंगों को अपने छंदों की धड़कन में उतार देना चाहता है। तब वह कर्तव्यों की अनंत शृंखला में अपने आपको क्यों बांधे? क्यों उससे कुछ अच्छे, ठोस और दर्शनीय परिणाम की आशा की जाए? अपने बारे में निर्णय करने का अधिकार वह उन बुद्धिमान लोगों को क्यों दे जो उसकी रचना का गुण होने वाले फायदे की मात्रा से समझने की कोशिश करें?

इस कवि का यानी मेरा उत्तर होगा कि जाड़े की खिली धूप में कुछ विस्तृत शाखाओं वाले मजबूत, सीधे और लंबे साल वृक्षों की छाया में जब एक दिन मैं कुछ बच्चों को लेकर आया तो मैंने शब्द के अतिरिक्त एक और माध्यम से कविता लिखनी शुरू की।

मनोविश्लेषण के इस आत्मचेतस युग में बुद्धिमान जनों ने खोज निकाला है कि कविता का गुप्त स्रोत दमित स्वतंत्रता के किसी प्रच्छन्न संस्तर में, कुचली हुई आत्माभिव्यक्ति की किसी निरंतर जकड़न में नीहित होता है। मेरे मामले में उनका कहना एकदम सही है। मेरे भूतकालिक बचपन का प्रेत अपनी शुरुआती बरबादियों का पीछा करता हुआ लौट आया है। यह दूसरे बच्चों के जीवन में जीना चाहता है। ताकि अपने खोए हुए स्वर्ग में फिर से रह सके। इस स्वर्ग का निर्माण सिर्फ बच्चे कर सकते हैं। इसे बनाने में रूढ़िबद्ध माल, तयशुदा नाप और मानक मूल्य के घटकों की जरूरत नहीं है।

मेरे दिमाग में तत्काल प्राचीन भारत के एक कवि, कालिदास, का नाम उभर रहा है। उनकी जीवनी लिखी नहीं गई लेकिन उसका हम आसानी से कयास लगा सकते हैं। विद्वानों का सौभाग्य कहिए कि उन्होंने अपने जन्मस्थान के बारे में कोई संकेत नहीं दिया है और इस तरह काल का एक ऐसा रिक्त बिंदु उन्हें मिल गया है जिस पर अनंत काल तक वे एक दूसरे से असहमत रह सकते हैं। मेरी बुद्धि की गति इतनी गहन नहीं है, लेकिन कहीं पढ़ा हुआ मुझे याद है कि वे खूबसूरत कश्मीर में पैदा हुए थे। तब से मैंने उनके जन्मस्थान के बारे में होने वाली बहसों को पढ़ना छोड़ दिया, इस डर से कि हो सकता है कि इसके विरोध में किसी विद्वत्तापूर्ण तर्क से मैं सहमत हो जाऊं। बहरहाल, यह ठीक लगता है कि कालिदास कश्मीर में पैदा हुए और मुझे उनसे ईर्ष्या है क्योंकि मैं कलकत्ता में पैदा हुआ।

मनोविश्लेषकों को निराश होने की जरूरत नहीं है। जल्द ही वहां से उखड़कर वे किसी मैदानी नगर में आ गए और 'मेघदूत' की उनकी पूरी कविता में दुःख की अनुगूंज है, 'सुखमय दिनों की याद' की पीड़ा समाई हुई है। क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है कि इस कविता में अमर सौंदर्य के स्वर्ग में रहने वाली अपनी प्रिया की खोज में यक्ष की भ्रमणशील कल्पना जानबूझ कर खुशी के मारे रास्ते में पड़ने वाले प्रत्येक पर्वत, नदी और वन के पास रुक जाती है; वही कल्पना जून माह में जल से भरे बादल का काले कृष्ण नेत्रों से स्वागत करने वाली ग्राम बाला को निहारने लगती है; वट वृक्ष के नीचे गाने वाले ग्रामीण वृद्ध के पास रुककर विख्यात प्रेम गीत सुनने लगती है जो सरल चित्त लोगों की पीढ़ी दर पीढ़ी उनके आंसुओं और मुसकान के बीच जीवित रहा? इसमें क्या हम पत्थरदिल नगर में बंदी एक कवि को आनंद में विभोर नहीं देखते जब वह अपनी कल्पना में पृथ्वी पर निर्वासित विरही प्रेमी को उस एक-एक पड़ाव पर रुकते हुए, पर्वत-पर्वत की यात्रा कराता है, जो उनके मिलन के स्वर्ग की ओर इंगित करता हो।

कवि किसी भौतिक गृहविछोह से संतप्त नहीं है, यह कोई और बुनियादी पीड़ा है, यह है—आत्मा का गृहविछोह। कवि जानता है कि यह केवल उसका अकेले का निर्वासन नहीं, बल्कि उसके पूरे युग का आत्म निर्वासन है। उसका युग समृद्धि बटोर चुका है, लेकिन उसने खुशी खो दी है, सामानों का कबाड़खाना भर चुका है, लेकिन महान ब्रह्मांड में उसकी पृष्ठभूमि लुप्त हो गई है। कवि की पूर्णता की आकांक्षा उसकी कविताओं और नाटकों में निरंतर किस रूप में प्रकट होती है? यह प्राचीन भारत के पितृसत्तात्मक समाज के वनप्रांत स्थित निवास, तपोवन, के रूप में प्रकट हुई है। संस्कृत साहित्य से परिचित लोग अच्छी तरह जानते हैं कि *तपोवन* आदिम संस्कार और मानसयुक्त लोगों के रहने की जगह नहीं था। वहां सत्य के अन्वेषी रहते थे। इसके लिए शुद्धता के वातावरण

में वे रहते थे, लेकिन शुद्धतावादी नहीं थे। वे सादा जीवन बिताते थे, लेकिन आत्मदमन के शौकीन न थे। वे ब्रह्मचर्य के उपदेशक नहीं थे और जिन्हें सांसारिक जीवन बिताना पड़ता था, उनसे निरंतर संपर्क बनाए रहते थे। *उपनिषद* की निम्नलिखित पंक्तियों में संक्षेप में उनके उद्देश्य और प्रयास वर्णित हैं :

ते सर्वागमा सर्वतः प्राप्यधीरा।
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशंति।
(धीर बुद्धि जन सर्वव्यापी आत्मा के साथ अपनी एकात्मता का अनुभव करके
और हमेशा उसके साथ रहते हुए उसी सर्वात्म में एकाकार हो जाते हैं।)

यह नकारात्मक प्रकृति के त्याग का दर्शन नहीं है, बल्कि एक सर्वविशी अनुभूति है। बहरहाल, समृद्ध उज्जयिनी नगर और विक्रमादित्य के गौरवशाली काल में बाधा-बंधन वाले विषयों और सर्वभक्षी *अहं* से संतप्त कालिदास की आत्मा जीवन, प्रकाश और स्वतंत्रता की प्रेरणा के लिए निरंतर *तपोवन* के स्वप्न के इर्दगिर्द भटकती रहती है।

इसे कोई प्रतिलिपि तो नहीं कहा जा सकता, हां, प्राकृतिक संयोग अवश्य है कि आधुनिक भारत में भी एक कवि ने अपने भीतर आध्यात्मिक निर्वासन की पीड़ा का अनुभव कर ऐसा ही एक स्वप्न देखा। स्पष्टतः कालिदास के समय लोग वनप्रांत के निवास, *तपोवन* के आदर्श में विश्वास करते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस काल में भी प्रकृति के हृदय में निवास करने वाले जनसमुदाय थे। वे आत्महनन के प्रेमी संसार विमुख लोग नहीं थे, बल्कि धीर मति जन थे, जो अपने जीवन के आध्यात्मिक अर्थ को खोजते रहते थे, अपने होने को अर्थवान करना चाहते थे। इसलिए कालिदास ने जब *तपोवन* के गीत गाए तो उनके गीत श्रोताओं के जीवंत विश्वास से तुरंत एकाकार हो गए। लेकिन आज *तपोवन* की धारणा वास्तविकता की दुनिया छोड़कर पुराकथाओं, किंवदंतियों के छायालोक में चली गई है। इसीलिए आधुनिक कविता में यह धारणा केवल काव्यमय होगी, इसका अर्थ साहित्यिक प्रतिमानों या आस्वादों के मुताबिक ही समझा जाएगा। फिर, वर्तमान काल में अपने शुद्ध मौलिक रूप में *तपोवन* की भावना अद्भुत, किंतु पुरावशेष ही होगी। इसलिए, यथार्थ रूप प्रदान करने के लिए जीवन की आधुनिक परिस्थितियों के मुताबिक इसका पुनर्संस्कार करना होगा; इसे सत्यतः तत्सम होना होगा, तथ्यतः तद्रूप नहीं। इसी कारण एक आधुनिक कवि को सगुण भाषा में कविता लिखने की हार्दिक इच्छा हुई। सबसे पहले कुछ विस्तार से मुझे इतिहास प्रस्तुत करने दीजिए।

सभ्य मनुष्य सामान्य जीवन के घेरे से काफी बाहर आ चुका है। धीरे-धीरे कुछ आदतें उसने बना ली हैं और वे आदतें बद्धमूल हो चली हैं। यह उसी तरह है जैसे

मधुमक्खियां मधु के छत्ते के हिसाब से अपने को ढाल लेती हैं। आधुनिक मनुष्य को अक्सर हम ऊबा, दुनिया से थका और अकारण अपने वातावरण से विद्रोह करते देखते हैं। सामाजिक क्रांतियों में लगातार एक आत्मघाती हिंसा मौजूद रहती है, जिसके स्रोत घेरेबंदी के इंतजाम से हमारे असंतोष में हैं। यह घेरेबंदी हमें परिप्रेक्ष्य से हीन कर देती है, जो जीवन की कला में उचित अनुपात बैठाने के लिए अत्यंत आवश्यक है। यह सब इस बात की ओर संकेत करता है कि मनुष्य को मधुमक्खी की तरह वास्तव में ढाला नहीं जा सकता और जब सामाजिक मनुष्य से कुछ अधिक होने की उसकी स्वतंत्रता काट ली जाती है तो वह गैरजिम्मेदार और असामाजिक हो उठता है।

जटिल आधुनिक परिस्थितियों में यांत्रिक शक्तियां इतनी कुशलता से संगठित की गई हैं कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएं मनुष्य के स्वभाव और उसकी जरूरत के मुताबिक आसानी से एकत्रित होने और उन्हें चुने जाने की मनुष्य की क्षमता से बाहर निकल गई हैं। वस्तुओं की यह अनर्गल अतिवृद्धि उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों के अति प्रवर्धिष्णु पौधों की तरह ही मनुष्य की घेरेबंदी कर लेती है। घोंसला सहज है, आकाश के साथ इसके संबंध आसान हैं। पिंजरा जटिल है, कीमती है, अपने आप में एक दुनिया है, बाहरी दुनिया से पूरी तरह काट देता है। आधुनिक मनुष्य पिंजरे बनाने में व्यस्त है, वस्तु नामक राक्षस पर अपनी निर्भरता बढ़ाता जा रहा है, चारों तरफ से इससे अपने आपको ग्रस लिए जाने की छूट देता जा रहा है। मनुष्य वस्तु की जड़ जरूरतों के मुताबिक अपने आपको ढाल रहा है, उसकी सीमाओं के हिसाब से अपनी सीमाएं बांध रहा है और वस्तु का एक अंग माल बनता जा रहा है।

मुझे बताया गया है कि मेरे कुछ श्रोताओं का विश्वास है कि वस्तुओं के लिए कृत्रिम ढंग से निर्मित भूख से ही जीवनस्तर के उन्नयन का निरंतर दबाव बना रहता है। यह दबाव ही वह ऊर्जा उत्पन्न करता और उसे संतुष्ट करता है जिससे सभ्यता अपनी अंतहीन यात्रा पर चली जा रही है। ऐसे श्रोताओं को मेरी बातें कुछ ज्यादा ही पौर्वात्य लगेंगी। व्यक्तिगत रूप से मैं ऐसा नहीं मानता कि इतिहास में अब तक ज्ञात किसी भी महान सभ्यता की मुख्य चालक शक्ति के रूप में इसकी ख्याति रही है। मैंने इस विषय को इसलिए नहीं छेड़ा कि मैं इसी पर बात करना चाहता हूं। मैंने तो केवल एक कवि के व्यवहार की व्याख्या करनी चाही, जिसने विशेषज्ञों और शैक्षिक उपलब्धि प्राप्त जनों के सुरक्षित क्षेत्र में घुसने की जुर्रत की।

मैं ब्रिटिश भारत के एक महानगर में पैदा हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के भाग्य-दुर्भाग्य की उठापटक के साथ पहली बाढ़ में ही मेरे पूर्वज बहते हुए यहां आ पहुंचे थे। उसके बाद से मेरे पारिवारिक जीवन की आचार पद्धति तीन संस्कृतियों, हिंदू संस्कृति, मुसलिम

संस्कृति और ब्रिटिश संस्कृति का मिश्रण बन गई। मेरे दादा के समय में प्रचुर परिधान, अतिशय शिष्टाचार और अवकाश की अधिकता में विक्टोरियाई तौर-तरीकों के मुताबिक कटाई-छंटाई चल रही थी। नई जीवनपद्धति में समय की बचत, उत्सवों में कम दिखावे और व्यक्तित्व के प्रदर्शन में गरिमा को अधिक महत्व दिया जाता था। इससे स्पष्ट है कि जिस दुनिया में मैंने जन्म लिया वहां प्राचीन ग्राम समुदाय की हमारी मधुर हरियाली पर आधुनिक शहरी सभ्यता और प्रगति की कार विजयी रफ्तार से चलना अभी शुरू ही हुई थी।

हालांकि मेरे आसपास के वातावरण में कुचलाव की प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी लेकिन उन ध्वंसावशेषों के भीतर अतीत की विलाप ध्वनि सुनाई पड़ती थी। अपने सबसे बड़े भाई को अकसर मैंने एक निराश पछतावे के दर्द के साथ उस समाज का वर्णन करते सुना जो पुरानी दुनिया में पाई जाने वाली सहज दयालुता की तासीर से लबालब था, मीठा था, अतिथिवत्सल था, सहज विश्वास और जीवन के उत्सवी काव्य से आप्लावित था, लेकिन मेरे लेखे यह सब कुछ क्षितिज की जलती-बुझती रोशनियों की स्वर्णिम आभा की तरह व्यतीत मात्र था। मेरे बचपन के चतुर्दिक फैला हुआ तथ्य तो पश्चिमी व्यापारियों की एक कंपनी द्वारा नवनिर्मित एक आधुनिक शहर था। हमारे जीवन को आधुनिकता की आदत नहीं पड़ी थी लेकिन आधुनिकता उसमें घुसी चली आ रही थी, इससे उत्पन्न विसंगतियों की ठोकर खाते ही मेरा बचपन बीता। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि हालांकि दुनिया का मेरा एकमात्र अनुभव शहर की चतुर्दिक कठोरता थी लेकिन मेरे दिमाग में लगातार निर्वासन का गृह विछोह घूमता रहता था।

लगता है कि किसी मध्ययुगीन निवासस्थान (जहां हमारे पूर्वजों के दिमाग में अनगढ़ चट्टानों, बहते पानी और सांय-सांय करते घने जंगलों के रहस्यों की छाया पड़ी थी और उनकी आत्मा ने इन रहस्यों से बातें की थीं।) की अवचेतन स्मृति मेरे लहू को लगातार अपनी पुकार से गरमाती रही। मेरे भीतर बैठी हुई कोई प्रेत बाधाग्रस्त जीवित स्मृति प्रसवपूर्व के हिंडोले और खेल के मैदान के लिए कराहती सी लगती थी, जो इसे कभी आदिम जीवन के साथ पृथ्वी, जल और वायु के सीमाहीन जादू में प्राप्त हुआ था। तप्त भारतीय मध्याह्न में सूरज की चिलचिलाती किरणों से व्यथित ऊंची उड़ती पतंग की क्षीण, दुर्बल आह एक अकेले बच्चे के लिए किसी निःशब्द दूरागत रिश्ते का इंगित है। इस पृथ्वी पर पहले आने वालों की पुरानी सेना के बचे-खुचे युद्धबंदियों की तरह मेरे घर की चहारदीवारी के पास कुछ नारियल के वृक्ष खड़े थे। वे मुझे पेड़ों और मनुष्य के महान भाईचारे के शाश्वत संबंध के बारे में बताते रहते थे। उन्होंने जंगल की पुकार के प्रति मेरे हृदय को उत्कंठित कर दिया। कुछ वर्षों बाद इस पुकार का उत्तर देने का सौभाग्य

मुझे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त हुआ जब दस वर्ष की आयु में विराट *देवदारों* की छाया में खड़ा मैं अकेले हिमालय को निहार रहा था। जीवन की उस प्रथम प्रसूत समृद्धि की गहन गरिमा, उस भयजनक किंतु शिष्ट धैर्य को देखकर मैं विस्मय से भर उठा।

अब मैं बचपन के उन दिनों को मुड़कर देखता हूं जब मेरा मस्तिष्क आकाश और प्रकाश हो जाने की विराट भावना के साथ उड़ता सा लगता था, जब चमकती घास के साथ भूरी मिट्टी से घुलमिल जाना चाहता था तो, यह विश्वास करने से अपने आपको रोक नहीं पाता कि मेरी भारतीय वंश परंपरा ने भीतर कहीं गहरे मेरे अस्तित्व में भारतीय दर्शन की छाप छोड़ दी थी। यह दर्शन सभी वस्तुओं की संगति में ही पूर्णता प्राप्त करने की वकालत करता है। गलत हो या सही, यह संगति हमारे भीतर मानव निर्मित जगत की बजाए ब्रह्मांड की गहराइयों में स्वतंत्रता प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत करती है। इसी कारण हमारे भीतर अग्नि, जल और वृक्ष, जो कुछ भी गतिमान और वृद्धिमान है, उसमें निहित देवत्व के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करने का भाव पैदा होता है। मेरे स्कूल की स्थापना का स्रोत मेरे जन्म के भी पार जाने वाली स्मृति, स्वतंत्रता की इसी इच्छा की स्मृति में निहित है।

मात्र आत्मनिर्भरता के अर्थ में स्वतंत्रता का कोई सार नहीं है, कोई अर्थ नहीं है। पूर्ण स्वतंत्रता संसार के भीतर संबंधों की पूर्ण संगति में है। यह संगति संसार के हमारे ज्ञान में नहीं बल्कि उसकी सत्ता के साथ एकाकार होने में है। ज्ञेय विषय ज्ञाता से अनंत दूरी बनाए रखते हैं क्योंकि ज्ञान तादात्म्य नहीं है। स्वतंत्रता का लोक तो उसके आगे स्थित है, जहां सत्य तक हम अपने इंद्रियानुभव के जरिए नहीं, तर्कसिद्ध ज्ञान के जरिए नहीं, बल्कि सहजानुभूति की तदाकारता के जरिए पहुंचते हैं।

बच्चे अपने इंद्रित संवेदनों की ताजगी के नाते इस विश्व से प्रत्यक्ष निकटता प्राप्त करते हैं। उनको यह महान वर प्राप्त है। उन्हें विश्व को नग्न और सहजतः स्वीकार करना चाहिए और कभी इसके साथ तत्क्षण संवाद की शक्ति नहीं खोनी चाहिए। अपनी पूर्णता के लिए हमें जैविकीय रूप से आदिम और मानसिक रूप से सभ्य होना होगा। हमें यह वर मिलना चाहिए कि हम प्रकृति के साथ प्राकृतिक और मानव समाज के साथ मानवीय बन सकें। मैंने जो दुःख अनुभव किए उनका कारण शहर का भीड़ भरा एकांत था, जहां आदमी हर कहीं बहुत थे लेकिन विराट मानवेतर के लिए कोई जगह न थी। शहरी जीवन के सभ्य अलगाव में बैठी मेरी निर्वासित आत्मा अपने दामन का फैलाव बढ़ा देने के लिए चिल्लाती रहती थी। मैं किसी छंद की अलगाई हुई एक पंक्ति की तरह हमेशा निलंबित पड़ा रहा, जबकि दूसरी पंक्ति, जिसके साथ इसका तुक बैठता और इसे पूर्णता मिलती, किसी अदृश्य दूरी पर कुहरिल धुंधलके में खो गई थी। प्रसन्न रहने की

सहज शक्ति लेकर अन्य बच्चों की तरह मैं भी इस दुनिया में आया था, लेकिन इस जीवन की ईंट-पत्थर वाली व्यवस्था से मेरी रगड़ ने, यांत्रिक आदतों और दस्तूरी शिष्टाचार के रिवाज से मेरे झगड़ों ने उसे खा लिया।

जैसा कि चलन था, मुझे भी स्कूल भेजा गया, लेकिन मेरी पीड़ा असामान्य थी, अन्य बच्चों से ज्यादा बड़ी थी। मेरे भीतर का असभ्य जीव अधिक संवेदनशील था : इसके भीतर रंग, संगीत और जीवन की हलचल की अधिक प्यास थी। हमारी शहर निर्मित शिक्षा ने इस जीवंत तथ्य को ध्यान में नहीं रखा। इसकी छकड़ागाड़ी तो अपने बेचने योग्य परीक्षा परिणामों की ठप्पे लगी गठरियां ले जाने के लिए खड़ी थी। आदमी में असभ्यता और सभ्यता का वही अनुपात होना चाहिए जो इस पृथ्वी में जल और धरती का है, असभ्यता का हिस्सा अधिक होना चाहिए। लेकिन स्कूलों ने तो अपना उद्देश्य असभ्यता का निरंतर सुधार तय कर रखा है। तरल तत्व के बहकर निकल जाने से बंजरता पैदा होती है। हो सकता है शहरी परिस्थितियों में इसे खेदजनक न माना जाए। लेकिन मेरा स्वभाव इन परिस्थितियों, फुटपाथ की उदासीनता भरी गुरुता का कभी आदी न हो सका। कुछ जल्दी ही मेरे भीतर असभ्यता जीत गई और तेरह वर्ष की उम्र पार करते-करते मैं स्कूल से बाहर हो गया। अपने आपको मैंने अज्ञान के द्वीप पर अकेला और बेसहारा खड़ा पाया। एकदम शुरू से ही अपनी शिक्षा के लिए मुझे मात्र अपने संवेगों पर निर्भर रहना पड़ा।

इस प्रकरण से मुझे याद आ रहा है कि जब मैं छोटा था, तभी सौभाग्यवश मेरे हाथ राबिन्सन क्रूसो का बंगला अनुवाद लग गया। अब भी मेरा विश्वास है कि यह बच्चों के लिए लिखी गई सर्वोत्तम किताबों में से एक है। इस परचे में मैंने पहले ही कहा है कि छुटपन में मेरी इच्छा अपने आप से पलायित होने और प्रकृति की अन्य चीजों से एक हो जाने की रहती थी। मैंने इस इच्छा को ठेठ भारतीय चेतना के विस्तार की पारंपरिक इच्छा का परिणाम बताया है। इसे माना जाना चाहिए कि यह इच्छा अपने चरित्र से निहायत निजी है, लेकिन हमारी भौगोलिक परिस्थितियों में यह अपरिहार्य है। हम उष्णकटिबंधीय क्षेत्र की निर्मम जलवायु में रहते हैं। प्रतिक्षण मात्र जीवित रहने के अधिकार की भारी कीमत चुकाते हैं। गरमी, ऊमस, बड़े जीवों के खाने के लिए छोटे जीवों की अकथनीय उत्पादकता, दृश्य और अदृश्य चिड़चिड़ाहट के स्रोत—सब मिलकर जीवन का बहुत छोटा हिस्सा ही खर्चीले प्रयोगों के लिए छोड़ते हैं।

ऊर्जा की अधिकता आत्मप्रकटीकरण के लिए बाधाएं खोजती है। इसीलिए अक्सर हम पश्चिमी साहित्य में प्रकृति के अमंगलकारी पक्षों पर ही जोर पाते हैं। पश्चिम में मनुष्य ने अपनी खुशी के लिए प्रकृति में एक दुश्मन खोज लिया है, जिसे लड़ने के लिए

ललकारने में उसे सुख मिलता है। जिस कारण सिकंदर ने इस दुनिया की विजय यात्रा पूरी कर जीतने के लिए दूसरी दुनिया को खोज निकालना चाहा था, उसी कारण ये परम उत्साही जन जब हानिकारक वस्तुओं के खिलाफ युद्ध के अपने उदात्त उद्देश्य से थोड़ी राहत पाते हैं तो दूसरों के फटे में अपनी टांग अड़ाने और दूसरों को पराजित करने के बाद उनसे हरजाना मांगने को बेचैन रहते हैं। अपने आपको घायल कर लेने का खतरनाक मजा लूटने के लिए ये लोग अनाक्रामक जंतुओं और लोगों से लड़ने की अनगिनत मुसीबतें उठाते हैं, उन सुंदर पक्षियों को घायल करते हैं जो उड़कर भाग जाना चाहते हैं, दुर्गम इलाकों में सुरक्षित रहने वाले शरमीले जानवरों को ढूंढ निकालते हैं, और—खैर छोड़िए, इस मामले में उच्चतर नस्लों का नाम लेने की शिष्टाचारहीनता से मैं बचना चाहता हूं।

जीवन की पूर्णता के रास्ते में लगातार अंतर्विरोध मिलते रहते हैं, लेकिन आगे बढ़ने के लिए इनका होना जरूरी है। नदी की धारा का प्रवाह सुस्त न पड़े, इसके लिए मिट्टी का निरंतर प्रतिरोध आवश्यक है, जिसके बीच से होकर उसे गुजरना है और जो कट जाने के बाद उसका किनारा बन जाती है। संघर्ष की भावना का संबंध जीवन की प्रकृति से है। साज को साधा जाना चाहिए, इसलिए नहीं कि कठिनाई के समक्ष ही उसमें कुशल अध्यवसाय प्रकट होता है, बल्कि इसलिए कि संगीत के संपूर्ण साक्षात में इससे मदद मिलती है। यह मान लेना ही ठीक होगा कि पश्चिम में जीवन के साज का हरेक तार साधा जा रहा है क्योंकि पश्चिम में रुकावटों से होड़ लेकर लड़ने का विजयी आनंद पाया जाता है। इस ब्रह्मांड की आत्मा में स्थित सृष्टि की भावना अपने लिए ही रुकावटों को कभी पूरी तरह नहीं मिटाएगी। संघर्ष की भावना महान है क्योंकि सत्य पूर्णता के उस आदर्श में निहित है जिसे अपना बना लेने के लिए अपने ही प्रयासों से उसे जीतना पड़ता है, इसलिए नहीं महान है कि उसके जरिए शारीरिक बल या हिंस्र लोलुपतायुक्त क्रूर पशुता का प्रदर्शन किया जाए।

राबिन्सन क्रूसो में प्रकृति के साथ एकात्मता का आनंद साहस की ऐसी कथा में अभिव्यक्त हुआ है, जहां एक आदमी अकेले प्रकृति के सम्मुख है, उसे फुसला रहा है, उसके साथ सहयोग कर रहा है, उसके रहस्यों से परिचित हो रहा है, उसकी मदद पाने के लिए सभी उपायों का प्रयोग कर रहा है। इस किताब को पढ़ने में मुझे मजा आया, तो इसलिए नहीं कि कंजूस प्रकृति की बंधी हुई मुट्ठी को खोल लेने की मनुष्य की सफलता के गर्व का मैं अनुभव कर रहा था, बल्कि इसलिए मजा आया क्योंकि इसमें प्रकृति से कुशलतापूर्वक तय व्यवहार करके मनुष्य ने उसकी सक्रिय संगति प्राप्त की, जिसका स्वाभाविक परिणाम है सफलता। यही पश्चिम का प्रेम दुस्साहस है, पृथ्वी से सक्रिय प्रणय है।

एक बार युवावस्था में मैंने ब्रिंदिसी से सेलेस तक यूरोप के आर पार रेल यात्रा की। मुझे याद है कि इस यात्रा के दौरान जब मैंने इस महाद्वीप में चतुर्दिक बिखरे विशाल सौंदर्य को देखा तो असीम आनंद और आश्चर्य की भावना से भर उठा। जिसे पश्चिमी मानवता कहते हैं उस उदात्त प्रेमी की सदियों से लगी निगाह तले यह सौंदर्य स्वास्थ्य और समृद्धि की आभा से खिल उठा है। प्रेमी ने उसे पा लिया है, अपना बना लिया है और उसके हृदय की अक्षय उदारता को उन्मुक्त कर दिया है। मुझे इच्छा हुई कि जिसे पूर्वी भक्त अपने मन के एकांत में पाता है उस विश्वात्मा की अंतश्चेतना को सेवा की इस बहिर्गत भावना के साथ जोड़ा जा सकता है, इच्छा के उस प्रयोग के साथ जोड़ा जा सकता है जो लज्जा के आवरण में ढके सौंदर्य की समृद्धि और खुशी को बाहर प्रकाश में खोलकर ला सके।

मुझे वह सुबह याद है जब बंगाल के एक गांव की भिखारिन ने उन बासी फूलों को अपनी साड़ी के छोर में बांध लिया जो मेरी मेज के फूलदान से उठाकर फेंके ही जाने वाले थे : और कोमलता की दिव्य छवि के साथ अपना मुंह इनमें गड़ाकर वह बोल उठी, 'ओह, मेरे हृदय के प्रेम।' आसानी से उसकी आंखें रूप के बाहरी आवरण को भेद गईं और इन फूलों में वह अनंत के उस लोक में पहुंच गई जहां उसने अपने प्रेमी का हार्दिक स्पर्श पाया। लेकिन इन सबके बावजूद उसमें पूजा की उस ऊर्जा, प्रत्यक्ष दैवी सेवा की उस पश्चिमी भावना का अभाव है जिससे पृथ्वी अपने फलफूल बाहर उगल देती है और उजाड़ भूखंड में भी सौंदर्य का साम्राज्य आ विराजता है। मुझे आशा है कि पूर्व और पश्चिम, मेरी और मार्था की जुड़वां भावनाएं सत्य की संपूर्ण प्राप्ति के लिए एक दिन अवश्य मिलेंगी। हमारी भौतिक दरिद्रता और कालजनित वैरभाव के बावजूद मैं धीरज के साथ इस मिलन की प्रतीक्षा कर रहा हूं।

जब मैं ऐसे संस्थान के बारे में सोचता हूं जहां केवल प्रेम नहीं बल्कि सक्रिय संवाद के जरिए मनुष्य और प्रकृति के बीच एकता का पहला पाठ बिना किसी बाधा के ग्रहण किया जाएगा, तो मेरे दिमाम में राबिन्सन क्रूसो का द्वीप ही आता है। हमें इस तथ्य को दिमाग में रखना चाहिए कि प्रेम और कर्म के माध्यम से ही पूर्ण ज्ञान पाया जा सकता है, क्योंकि ज्ञान का उद्देश्य विद्या का आडंबर नहीं बल्कि विवेक की प्राप्ति है। इस तरह के किसी संस्थान का प्राथमिक उद्देश्य किसी आफत के समय शरीर के अंगों और मस्तिष्क की कुशल तैयारी की शिक्षा मात्र नहीं होना चाहिए, बल्कि इसका उद्देश्य जीवन और विश्व की पूर्ण संगति का संतुलन, इनके बीच की संगत में सही लय प्राप्त करना होना चाहिए। इसी को विवेक कहते हैं। इस तरह की जगह पर बच्चों के लिए पहला महत्वपूर्ण पाठ आत्मसुधार का होना चाहिए, उनकी आत्मा से बहिष्कृत तैयारशुदा

मार्गों को बार-बार उनके सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिए, ताकि उपलब्धि के अचंभे के जरिए अपनी क्षमता को पा लेने के अवसर बार-बार उनके सामने उपस्थित हों। मैं साफ कर देना चाहता हूं कि इसका अर्थ सामान्य जीवन का पाठ नहीं, बल्कि सृजनात्मक जीवन का पाठ है। क्योंकि जीवन चाहे जितना जटिल हो जाए, अगर उसके केंद्र में एक जीवंत व्यक्तित्व है तो उसमें सृजन की एकता अक्षुण्ण रहेगी, अपना भार यह खुद पूर्ण गरिमा के साथ वहन कर लेगा, और तथ्यों की विशाल भीड़ में एक और तथ्य मात्र होकर शामिल नहीं होगा।

काश ! मैं कह सकता कि हमारे स्कूल ने मेरे स्वप्न को पूरी तरह मूर्तिमान कर दिया है। लेकिन हम इस पुस्तक की अभी केवल भूमिका ही लिख सके हैं और बच्चों को एक अवसर दिया है कि प्रकृति को प्रेम करने की क्षमता के जरिए इसमें अपनी स्वतंत्रता वे हासिल करें। क्योंकि प्रेम ही स्वतंत्रता है : यह हमें अस्तित्व की वह परिपूर्णता देता है जिससे हम अपनी आत्मा को अतीव सस्ती चीजों के लिए बेचने से बच जाते हैं। प्रेम इस विश्व को अर्थ का प्रकाश प्रदान करता है और जीवन को चतुर्दिक वही परिपूर्णता देखने की शक्ति देता है जो सचमुच इसका भोज्य है। मैं ऐसे लोगों को जानता हूं जो दरिद्रता के आध्यात्मिक गुणों का बखान कर सादा जीवन की संस्कृति का उपदेश देते हैं। मैं दरिद्रता में किसी विशेष मूल्य की कल्पना करने से इनकार करता हूं, अगर वह केवल नकार है। जब मस्तिष्क इतनी संवेदनशीलता प्राप्त कर ले कि सत्य की गहरी पुकार का उत्तर दे सके तब स्वभावतः वस्तुओं के मिथ्या मूल्य के आकर्षण से वह मुक्त हो जाता है। उदासीनता हमसे खुशी प्राप्त करने की सहज शक्ति छीन लेती है और फर्नीचर और कीमती वस्तुओं के मूर्खतापूर्ण बोझ में दंभ की अशिष्टता पैदा कर देती है। लेकिन तापसी उदासीनता को भोग की उदासीनता के विरुद्ध खड़ा करना एक बुराई के खिलाफ लड़ाई में दूसरी बुराई की मदद लेने के समान है, जंगल की राक्षसी शक्ति के विरुद्ध मरुस्थल के निर्मम दानव को आमंत्रित करने जैसा है।

अपने स्कूल के बच्चों में मैंने साहित्य, सांस्कृतिक उत्सवों और उन धार्मिक शिक्षाओं के जरिए प्रकृति के उनके अहसास में ताजगी, मानवीय पर्यावरण के साथ उनके संबंधों में आत्मा की संवेदनशीलता विकसित करने की भरपूर कोशिश की है, जिनसे विश्व के साथ मनुष्य जाति के नजदीकी आत्मिक संबंध बनते हैं। इस तरह वह प्राप्त होता है जिसे नापा नहीं जा सकता। यह ऐसे ही है जैसे एक वाद्य यंत्र हमें प्राप्त हो जाए, इस अर्थ में नहीं कि वह हमारे पास है, बल्कि इस अर्थ में कि हम उसे बजा सकते हैं। मैंने बच्चों के लिए इस विश्व में सच्ची घरवापसी की तैयारी की है। खुली हवा में, वृक्षों की छाया में जो दूसरे विषय वे पढ़ते हैं, वे हैं—संगीत और चित्रकला; नाटकों का मंचन

और ऐसी गतिविधियां जो जीवन की अभिव्यक्ति हैं।

मैंने पहले ही संकेत किया है कि यही काफी नहीं था और मैंने ऐसे लोगों और साधनों की प्रतीक्षा की जो मेरे स्कूल में काम का सक्रिय उत्साह, हमारे चरित्र निर्माण में मददगार, हमारी खोजी और रचनात्मक ऊर्जाओं के प्रसन्न प्रयोग की भावना भरने में सक्षम हों और अपनी गतिविधियों से स्वभावतः गर्दो-गुबार, क्षय और मृत्यु का ढेर उड़ाकर साफ कर दें। दूसरे शब्दों में, मुझे हमेशा पश्चिमी प्रज्ञा की जरूरत का अहसास रहा जो मेरे शैक्षिक आदर्श को यथार्थ की उस शक्ति से संवलित कर दे जो व्यावहारिक कल्याण के ठोस लक्ष्य की ओर जाने का रास्ता बनाना जानती है।

बाधाएं मेरे सामने अनंत थीं। जो समुदाय अपने को शिक्षित कहता है उसकी परंपराएं, अभिभावाकों की आशाएं, खुद अध्यापकों की शिक्षा, आधिकारिक विश्वविद्यालय का दावा और उसका संविधान, सब कुछ मेरी आकांक्षित योजना के विरुद्ध ही था। कोढ़ में खाज हमारी वित्तीय स्थिति थी। अपने देशवासियों से आर्थिक मदद मैं आकर्षित न कर सका, फलतः हमारे पास धन एक ऐसी संस्था को टिकाने के लिए एकदम अपर्याप्त था जहां विद्यार्थी अनिवार्यतः कम होने थे।

सौभाग्यवश, मदद एक अंग्रेज मित्र से मिली जिन्होंने विश्वभारती से जुड़े ग्रामीण कार्य को निर्मित और सृजित करने में अग्रणी भूमिका निभाई। मानवीय व्यक्तित्व को अपने स्वास्थ्य के लिए शारीरिक और मानसिक, सभी क्षेत्रों में सामान्य उत्प्रेरणा की आवश्यकता है। मेरी ही तरह मेरे मित्र भी ऐसी शिक्षा में विश्वास करते हैं जो मनुष्य की इस जरूरत के लिए उसे संपूर्णता में ग्रहण करे। अपने विचार को अमल में लाने की आजादी के लिए हमने कुछ बच्चों के साथ अपना काम शुरू किया, जो या तो अनाथ थे या जिनके माता-पिता इतने दरिद्र थे कि उन्हें अन्य किसी स्कूल में नहीं भेज सकते थे।

कुछ ही समय में हमने पाया कि कई तरह के रचनात्मक कार्यों में लगे इन दिमागों ने तेजी से वह ऊर्जा प्राप्त कर ली, जिसे ज्ञान की दुनिया में अब अपनी निष्कृति चाहिए। यहां तक कि उन्होंने हस्तलेख सुधारने जैसे यांत्रिक काम के लिए भी अतिरिक्त भार लेना शुरू कर दिया। इन बच्चों के दिमाग घटित हो रही घटनओं के प्रति इतने जीवंत हो उठे कि अंग्रेजी सीखना उनके कार्यक्रम में नहीं था, फिर भी एक बार एक साधारण से तथ्य से उन्होंने अंग्रेजी सीखने का काम समझ लिया। यह समझ उन्हें एक दिन चिट्ठी भेजते हुए आई। उन्होंने देखा कि लिफाफे पर बंगला में जो पता लिखा है, उसे पोस्टमास्टर अंग्रेजी में लिख रहा है। तुरंत वे अपने अध्यापक के पास गए। उनसे मांग की कि अतिरिक्त समय में उन्हें अंग्रेजी पढ़ाई जाए। और भी आश्चर्यजनक यह है कि आज तक इन

बहादुर बच्चों को अपने इस दुस्साहिक निर्णय पर कभी पछतावा नहीं हुआ। आज क्या मुझे अपने बचपन के वे हिसंक और आपराधिक खयालात नहीं याद आ रहे जो अपने अंग्रेजी अध्यापक को मेरे घर आने वाले रास्ते के मोड़ पर देखते ही मेरे मन में उठते थे?

इन बच्चों के लिए छुट्टी का कोई अर्थ नहीं था। उनका अध्ययन हालांकि कठोर था लेकिन कोई अतिरिक्त कार्यभार नहीं था, बल्कि छुट्टी की तरह ही उनकी रसोई, सब्जी के बाग, बुनकरी और छोटे-मोटे मरम्मत के उनके कामों के साथ ही चलने वाली गतिविधि था। चूंकि उनकी पढ़ाई ने उनके सामान्य पेशे से हटाकर उन्हें कहीं और नहीं कैद कर दिया था, चूंकि यह उनके दैनिक जीवनप्रवाह का अंग बन गई थी, इसीलिए उनकी शिक्षा अपना बोझ अपने बहाव के बल पर ही ढो लेती थी।

पहली बार जब वे आए तो अधिकांश बच्चे शरीर और दिमाग से बहुत कमजोर थे : पिछली कई पीढ़ियों से जारी मलेरिया और अन्य उष्णकटिबंधीय बीमारियों द्वारा किए गए विनाश के कारण वे ऐसी धरती की तरह लगते थे जिस पर वर्षों से जंगली युद्ध चला आ रहा हो, उनके शरीर में रक्ताल्पता ने घर कर लिया था। वे अपने साथ दुःसह मानसिक विकृतियां लेकर आए थे, जो दूषित रक्त और क्षुधित शारीरिक स्थिति की उपज थी। ब्राह्मण मगरूर था, अब्राह्मण आत्मतिरस्कार के कारण दयनीय लगता था। अगर अपने को छोड़कर किसी और को थोड़ा भी अधिक लाभ मिलने की संभावना हो तो वे साझा हित का कोई काम करने में घृणा का अनुभव करते। अगर उनसे उनके फायदे के लिए ही कोई हाथ का काम करने को कहा जाता तो वे चिड़चिड़ाते थे क्योंकि उपयुक्तता के अपने मानदंड के अनुसार वे समझते कि यह काम किसी साधारण *कुली* या उजरती रसोइए का है। वे खैरात पर जीने में शर्मिंदा नहीं होते लेकिन अपनी मदद खुद करने में उन्हें लाज लगती। संभवतः, वे इसे उचित नहीं समझते थे कि हमें शोहरत मिले और उन्हें इसकी थोड़ी सी भी कीमत चुकानी पड़े।

यह सोचा जा सकता था कि उनकी यह नीचता और स्वार्थ भरी ईर्ष्या, अधिकाधिक लाभ की इच्छा में अभिव्यक्त, उनका नैतिक आलस्य उनके स्वभाव का अंग बन गया है। लेकिन बहुत कम समय में यह सब कुछ बदल गया। इन बच्चों में त्याग और सहभागिता की भावना, दूसरों के निःस्वार्थ मदद की इच्छा जिस कदर विकसित हुई, कई बार वह अच्छे माहौल में रहे बच्चों में भी बिरले ही पाई जाती है। स्वस्थ सक्रिय जीवन ने उनके भीतर जो कुछ अच्छा था उसे तेजी से सतह पर ला दिया और अशुद्धि का इकट्ठा पड़ा कूड़ा बुहार दिया। रोज जो काम वे करते थे, उसके चलते नैतिक समस्याएं ठोस कठिनाइयों का रूप धरकर सामने आईं और उनसे ठोस समाधान की मांग की। तथ्य के तर्क ने

जीवन के भीतर नैतिक सिद्धांतों की असलियत जाहिर कर दी, और अब जब दूसरे बच्चे इसे नहीं समझ पाते तो उन्हें आश्चर्य होता है। उन्हें खाना पकाने, बुनकरी करने, बागबानी करने, अपने वातावरण को सुधारने और दूसरे बच्चों की मदद करने में आनंद का अनुभव होता है। यह मदद अकसर वे चुपके से करते हैं अन्यथा पता चलने पर दूसरा शर्मिंदा होगा। खाना खिलाने वाले दूसरे संगठनों में सदस्य जितना उन्हें दिया जाता है, उससे अधिक के लिए शोरगुल करते हैं, लेकिन ये बच्चे स्वयमेव अपनी जरूरतों को कम रखते हैं, धीरजपूर्वक अपूर्णता की अनिवार्यताओं को बरदाश्त करते हैं। उन्हें यह सिखाया गया है कि अधिकांश जिम्मेदारियां उनकी खुद की हैं, और कोई भी अय्याशी बोझ बन जाएगी अगर उसका भार बहुत सारे दूसरे लोगों के कंधों पर भी न हो। इसलिए अगर कोई अभाव पैदा हो तो हाथ पर हाथ धरे बड़बड़ाने से बेहतर है कोई रास्ता सोचना और कोई इंतजाम खुद करना। भोजन की पोषकता बढ़ाने के लिए उन्हें सब्जी उगाने में अधिक दिलचस्पी लेनी होगी। अपनी छोटी जरूरतों को पूरा करने के लिए उनके पास औजार और मां की दी हुई सीख है। हालांकि उनके प्रयासों के परिणाम अनिवार्यतः अनगढ़ निकलेंगे, लेकिन उनमें एक मूल्य होगा जिसकी कीमत बाजार में नहीं लगाई जा सकती।

चाहता हूं कि इस विवरण में किसी साहित्यिक क्रमभंग के ही उद्देश्य से मैं अपनी योजना में किसी व्यवधान की चर्चा करूं, मेरी व्यवस्था को बरबाद कर देने वाले किसी अप्रत्याशित-बेमेल तत्व का संकेत दूं। लेकिन सत्य के हित में मुझे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अभी तक तो ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ है। शायद हमारी उष्णकटिबंधीय जलवायु ही हमारे वातावरण की शांत स्थिति के लिए जिम्मेदार है। शायद इसी के कारण हमारे बच्चों में ऊर्जा की वह अधिकता नहीं पाई जाती जो सुरक्षित रखी जाने वाली चीजों में अव्यवस्था पैदा करके ही मजा पाती है। शिकार के प्रेमी पश्चिमी लोग भारतीय किसान द्वारा दिखाए गए मोर के साथ यही बरताव करते हैं। शायद अभी इतने दिन भी नहीं बीत गए हैं कि मैं यह आशा करूं कि हमारा यह प्रयोग भोलेभाले बच्चों के किसी आदर्श स्वर्ग की फोटो प्रतिलिपि नहीं बन जाएगा। मुझे पूरी उम्मीद है कि जल्द ही जीवन की कोई अनपेक्षित समस्या उठ खड़ी होगी, हमारे सिद्धांतों को चुनौती दे देगी और कठिन अंतर्विरोध पैदा कर आदर्शों में हमारे विश्वास की परीक्षा ले लेगी।

इसी बीच यह महसूस कर कि जीवन की जरूरतों के हिसाब से शरीर और मस्तिष्क को ढाले जाने की दैनिक प्रक्रिया ने बच्चों में बौद्धिक अवधानता पैदा कर दी है, हमने इस व्यवस्था को अपने स्कूल के प्राइमरी सेक्शन में भी लागू करने का साहस जुटा लिया। प्राइमरी पाठशाला हमारे विश्वविद्यालय से रणनीतिक रूप से सबसे अधिक दूरी पर खड़ा बुर्ज है। इस कक्षा के बच्चों ने अपनी पहली झोपड़ियां अभी खड़ी की हैं। वे अपने काम

पर गर्व करते हैं। उनके व्यवहार से लगता है कि उन्होंने सोचना शुरू कर दिया है कि शिक्षा जीवन की साहसिक यात्रा का स्थायी अंग है, कि शिक्षा उनके अज्ञान की जन्मजात बीमारी को दूर करने वाली दर्दनाक अस्पताली चिकित्सा नहीं है, बल्कि स्वस्थ शरीर की क्रिया है, उनके मस्तिष्क की जीवंतता की सहज अभिव्यक्ति है। मेरा सौभाग्य है कि मैं अपने संगठन के एक कोने में जीवन की पहली बाढ़ को सिर उठाते देख रहा हूं। मेरा इरादा बिना कोई महानतापूर्ण नामपट्ट दिए इस लता को बढ़ने देने का है, ताकि यह उस बांझ डंडे को पूरी तरह छिपा ले जो कोई प्राकृतिक फलफूल तो नहीं ही पैदा करता, अलबत्ता परीक्षा में सफलता का झंडा व्यर्थ टांगे रहता है।

अपनी बात खत्म करने से पहले मैं अपने शैक्षिक प्रयास के सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दे के बारे में दो एक शब्द कहना चाहूंगा।

बच्चों का एक सक्रिय अवचेतन मस्तिष्क होता है जो पेड़ की तरह अपने आसपास के वातावरण से अपने लिए खुराक ग्रहण करता है। उनके लिए वातावरण नियमों और पद्धतियों, इमारतों, कक्षा की शिक्षाओं और पाठ्य द्वारा निर्धारित पुस्तकों से बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण है। पृथ्वी पर धरती और जल के रूप में पदार्थ मौजूद हैं। लेकिन, अगर मुझे लाक्षणिक भाषा की इजाजत दी जाए तो, वह अपनी स्वतंत्रता की प्रेरणा अपने वातावरण से प्राप्त करती है, वातावरण ही उसके जीवन की उत्प्रेरक शक्ति है। वातावरण जैसे उसके लिए निरंतर शिक्षा का परिवृत्त है। वातावरण ही पृथ्वी की गहराइयों में से रंग और गंध, संगीत और गति के रूप में प्रत्युत्तर खींच ताता है, उसे निरंतर अश्रुतपूर्व आश्चर्यों में अपने को व्यक्त करने को बाध्य करता है। मनुष्य भी समाज में अपने लिए संस्कृति का वातावरण चारों और फैला हुआ पाता है। संस्कृति मानव मस्तिष्क को उसकी नस्ली विरासत, परंपरा से प्राप्त प्रभावों के प्रवाह के प्रति संवेदनशील बनाए रखती है, उसके लिए जमानों से चली आ रही संगठित सूझ को अनायास प्राप्त करना सहज बना देती है। लेकिन शैक्षिक संगठनों में हम खान खोदने वालों की तरह यंत्र के जरिए कठोर श्रम कर धरती से कुछ मूल्यवान प्राप्त करने के लिए जमीन खोदते रहते हैं : जमीन जोतने वाले की तरह आचरण नहीं करते, जिसके श्रम का प्रकृति के साथ वातावरण से सहानुभूति के निस्पृह संबंध जैसा पूर्ण सहयोगपरक रिश्ता होता है।

बहरहाल, मैंने अपने संस्थान में वातावरण निर्माण की चेष्टा की है, इसे शिक्षा के अपने कार्यक्रम में प्रमुख स्थान दिया है। क्योंकि आत्मा की संवेदनशीलता के विकास के लिए, बुद्धि सहानुभूति की सच्ची स्वतंत्रता हासिल कर पाए, इसके लिए वातावरण का होना जरूरी है। उदासीनता और अज्ञान मनुष्य के लिए निकृष्टतम कोटि के बंधन हैं; वे अदृश्य दीवारें हैं, जिनमें हम उनकी कैद में घिरे रहते हैं। शैक्षिक संगठनों में हमारी

तर्कबुद्धि को पोषित किया जाना चाहिए, ताकि सत्य की दुनिया में अपने दिमाग को हम स्वतंत्रता उपलब्ध करा सकें, कला की दुनिया में अपनी कल्पना को मुक्त विहार करा सकें और मानवीय संबंधों की दुनिया में सहानुभूति का अनुभव कर सकें। इनमें से अंतिम तो विदेशों का भूगोल सीखने से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

आज बच्चों के दिमाग को जानबूझ कर भिन्न भाषा बोलने वाले और भिन्न रीतिरिवाज मानने वाले दूसरे लोगों को समझने में अक्षम बना दिया गया है। इसके कारण बड़े होने पर हमारी आत्मा अंधेरे में एक दूसरे को घूरती रहती है, अज्ञानवश एक दूसरे को चोट पहुंचाती रहती है और इस युग की सबसे बड़ी अंधता का शिकार बनी रहती है। खुद ईसाई मिशनरियों ने भिन्न नस्लों और भिन्न सभ्यताओं के प्रति इस असंवेदनशीलता और असहिष्णुता को विकसित करने में भारी योगदान किया है। उन्होंने अपनी पाठ्य पुस्तकों में इसे स्थायी कर दिया है और छोटे बच्चों के भावुक दिमागों में जहर भर दिया है। मैंने अपने बच्चों के दिमाग को पश्चिम के मित्रों की मदद से सहज मानव प्रेम की इस विकलांगता से बचाने की कोशिश की है। इन मित्रों ने अपनी सहानुभूतिमूलक समझदारी से हमारी सबसे बड़ी सेवा की है।

9. शिक्षा में अंगसंचालन की कला

मैं ठाकुर के साथ 1924 में भाषण यात्रा पर दक्षिण अमरीका गया। वे बीमार पड़ गए और अर्जेंटीना में रुककर स्वास्थ्य लाभ करने लगे। कई बार उन्होंने शारीरिक अंग संचालन के जरिए विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के बारे में मुझसे बातें कीं। यह सब वे यह जानकर ही कह रहे थे कि मैं इंगलैंड में एक स्कूल खोलने जा रहा हूं। वहां मेरा इरादा ऐसे ही विचारों को लागू करने का था। संयोगवश, डार्टिंगटन हाल में ऐसा हुआ भी। उसी समय विस्तृत ढंग से मैंने उन्हें लिख दिया। निम्नलिखित अंश इस विषय पर ठाकुर के विमर्श की पांडुलिपि है। व्यक्तिगत प्रकृति के तीन छोटे-छोटे वाक्य निकाल दिए गए हैं। शेष विश्वसनीय हस्तलेख है। पढ़ने की सुविधा के लिए इसे पैराग्राफों में सजा दिया गया है (एल. के. एमहर्स्ट)।

पॉपी (कवि की दत्तक पौत्री का पुकारने का नाम, उम्र ढाई साल) जब मुझसे बोलती है तो अपने समूचे शरीर से बोलने की कोशिश करती है। नाव पर मुझसे मिलने पर उसे खुशी हुई। उसने अपने किस्म के एक नृत्य के जरिए इसे व्यक्त किया। जब वह नाच रही थी, उसका संपूर्ण शरीर ही उसकी वाणी था। वह कहना चाह रही थी कि जीवन सुखद और दुनिया सुंदर है। अभी उसने शब्दों की भाषा नहीं सीखी है। उसका नन्हा मस्तिष्क अपनी गहराइयों में आंदोलित हुआ और नृत्य के जटिल अंगसंचालन में फूट पड़ा। जैसे संगीत की धुन पर उसका पूरा शरीर नाच उठा।

शरीर के क्रिया व्यापार में केवल जीने और चलने-फिरने के लिए आवश्यक कार्यों का संपादन ही नहीं है। हम अपने को अभिव्यक्त कर सकें, केवल चेहरे से नहीं, बल्कि पांवों, भुजाओं और हाथों से भी, यह भी शरीर का ही काम है। शरीर के सभी अंग अभिव्यक्ति की विशेषता से युक्त हैं। इसका पता मुझे एक दिन लंदन में चला। आपके देशवासी एक महान चिंतक ने मुझे अपने साथ दोपहर के भोजन का न्योता दिया। मैं नाम तो आपको नहीं बताऊंगा, लेकिन आप समझें कि एक महान दार्शनिक मेरे सामने बैठा हुआ था। सहसा वह कुर्सी से उठा और चहलकदमी करने लगा। जैसे ही उसके दिमाग में विचारों ने घूमना शुरू किया, उसे इसका साथ देने के लिए एक और गति की जरूरत महसूस हुई। दिमाग और शरीर की गतियों में संयोजन आवश्यक हो उठा। उसका दिमाग उसके शरीर से सजीव संबद्धता का अनुभव करता था। उसी तरह उसके शरीर की लय उसके दिमाग की गतियों से तत्क्षण और स्वभावतः जुड़ गई। कुर्सी से उसके उठ पड़ने और चहलकदमी करने में उसके शरीर की मांग अभिव्यक्त हुई। यह शरीर

की मांग थी कि अब चिंतन को मुक्तावस्था चाहिए।

जब हम उत्तेजित होते हैं तो अक्सर यों ही टहलना शुरू कर देते हैं। कारण कि विचार को शारीरिक अभिव्यक्ति चाहिए ताकि वह अपना काम स्वतंत्रतापूर्वक और पूरी तरह संपादित कर सके। बच्चों को नाचना चाहिए। उन्हें चंचल चित्त होना चाहिए। जब वे सोचते हैं तो उनका शरीर अस्थिर हो उठता है, नाना प्रकार के अंगसंचालन होने लगते हैं। इससे उनकी मांसपेशियां उनके दिमाग से संगति प्राप्त करती हैं।

बच्चों का पूरा शरीर अभिव्यक्तिमय होता है। जब हम स्कूल जाते हैं तो पहला गलत कदम उठाते हैं। वहां हमें बैठे-बैठे सोचने को कहा जाता है, सोचते हुए हाथ नहीं हिलाना चाहिए। अध्यापक के सामने हम अनेक मुखौटे पहने रहते हैं। बराबर हमें उन शारीरिक क्रियाओं को काबू में रखने को मजबूर किया जाता है, जो हमारे चिंतन के समानांतर और साथ-साथ चलती रहती हैं। बचपन में जब कभी हमारे भीतर कोई मनोविकार उत्पन्न होता है या कोई विचार हम ग्रहण करने लगते हैं, हमें तुरंत यथोचित और सुसंगत शारीरिक आंदोलन की जरूरत पड़ने लगती है।

बच्चे निष्कंप बैठे विचार ग्रहण करने की आदत जल्द ही सीख लेते हैं। तब उनके मस्तिष्क को शारीरिक क्रिया की सहायता के बगैर ही सोचना पड़ता है। दूसरी तरफ, शरीर अपने आपको उपेक्षित महसूस करता है। क्योंकि वह अपने परम सहभागी, मस्तिष्क, की उसके काम में कोई सहायता नहीं कर पा रहा। परिणामतः, मस्तिष्क को बाद में हमेशा पीड़ित रहना पड़ता है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि कुछ खास तरह के चिंतनों के लिए आपको खामोश बैठने की जरूरत ही नहीं। कभी-कभी, उदाहरण के लिए गणित में हमें समस्त शारीरिक और मानसिक ऊर्जा एक समस्या हल करने में केंद्रित करनी पड़ती है, सभी ध्यान भंग करने वाली हरकतों को रोक देना पड़ता है, खासकर तब जब आप किसी जटिल विषय की गहराइयों में उतरना चाहते हों। कुछ खास तरह के चिंतन के लिए दत्तचित्त होकर बैठना लाभकारी होता है।

लेकिन सृजनात्मक कार्यों में मस्तिष्क समायोजक की तरह काम करता है। हम सोचने और व्यक्त करने के क्रम में श्रेष्ठ को प्राप्त करते हैं। केवल शब्दों में जब हमें अभिव्यक्ति करनी होती है तो अपूर्णता का अनुभव होता है। संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए हाथों और पांवों का संचालन भी उतना ही आवश्यक है। कवि या संगीतकार जब काम करता है तो हाथ-पांव हिलाता रहता है। उसे हाथ-पांव हिलाना या चेहरा सिकोड़ना पड़ता ही है। अपनी कुर्सी छोड़कर खिली धूप में अपने विचारों के साथ वह नृत्य क्यों नहीं करने लगता? क्योंकि वह स्कूल हो आया है। स्कूल में ही उसने मस्तिष्क के साथ शरीर की स्वाभाविक सहभागिता को नष्ट कर देने की आदत सीख ली है। उसका परित्यक्त शरीर उपेक्षित

अनुभव करता है क्योंकि नाचते हुए या घूमते हुए रचना करने अथवा सोचने की कला वह खो चुका है। परिणामतः शरीर जीवन के सबसे महत्वपर्ण कार्यभार से वंचित हो जाता है। वह अपने संचालन के जरिए अभिव्यक्ति प्रदान के लिए बना है और अभिव्यक्ति की उसकी इच्छा ही लुप्त हो जाती है। शरीर अशक्त हो जाता है। केवल चेहरे में संचालन के जरिए अभिव्यक्ति की शक्ति और स्वतंत्रता कुछ हद तक बची रहती है। जब आप हंसते हैं या रोते हैं तो आपके मनोभाव चेहरे के कुछ संचालनों में अभिव्यक्ति पाते हैं। लेकिन छोटे बच्चों को देखिए। वे मुसकराते हैं तो समूचे शरीर से, रोते हैं तो हरेक मांसपेशी से, गुस्से में जमीन पर पांव पटकते हैं। बचपन में जो भी गहन मनोभाव उपजते हैं, पूरा शरीर उन्हें प्रकट करने की कोशिश करता है। इस शक्ति और स्वतंत्रता को हमने जानबूझ कर अपंग बना डाला है और बच्चों को इन दोनों से वंचित कर दिया है।

जब मैं छोटा था, मेरा शरीर अभिव्यक्तिमय और चारु था। सारे अंग एक दूसरे की पूर्ण संगति में काम करते थे। बाद में मैं चुपचाप बैठने और सोचने में ज्यादा समय लगाने लगा। मैं बैठकर लिखता था। इस प्रक्रिया में पूरा शरीर कोई भाग नहीं लेता था। केवल मेरा चेहरा तनता और कभी-कभी मैं हाथ इधर-उधर फेंकता। बाकी पूरा शरीर स्थिर रहने से अव्यक्त रहता। इस तरह शरीर अन्य जैविकीय कार्य तो संपादित करता रहा पर उसकी चारुता चली गई। हो सकता है चेहरे और हाथों के संचालन में कुछ-कुछ सौंदर्य बचा हुआ हो लेकिन बाकी अंगों के रूपाकारों में से बहुत कुछ बहुमूल्य युवावस्था में ही चला गया। अब केवल चेहरे और हाथों में ही मेरे दिमाग में जो चल रहा है उसे अभिव्यक्त करने की क्षमता बची रह गई है।

आपको तो याद होगा, हम लोगों ने साथ-साथ जापानी अभिनेताओं को देखा था और उनके प्रशिक्षण के बारे में बातें की थीं। नाटक की जो भी मांग हो ऐसे किसी भी विचार को वे अपने पूरे शरीर से मूर्तिमान कर सकते हैं। वे बचपन से ही इस शक्ति में विशेषज्ञता हासिल करते हैं। किसी भाव विशेष या विचार इकाई को संप्रेषित करने में शरीर की प्रत्येक मांसपेशी का वे उपयोग करते हैं। केवल चेहरा नहीं, बल्कि पूरे शरीर की मांसपेशियों की अपनी भूमिका होती है। उन्हें यह पता होना चाहिए कि हमारे भीतरी भावों की अभिव्यक्ति को कैसे पूर्णता प्रदान की जाए। अंगसंचालन की भाषा समृद्ध होनी चाहिए ताकि उसके उपयोग और वास्तवीकरण में आसानी हो। किसी एक भाव की अभिव्यक्ति के लिए भी हमारे सारे अंग हिलने-डुलने और काम करने को स्वतंत्र होने चाहिए। क्यों न माना जाए कि चिंतन की प्रक्रिया के दो चरण होते हैं : पहला, चिंतन स्वयं, और दूसरा, उस चिंतन को शब्दों में नहीं भी तो अन्य उचित रूपाकार प्रदान करने की प्रक्रिया? चिंतन के आवर्तों और आकारों को अंगसंचालन की लय में अभिव्यक्त होना

चाहिए और शरीर को चिंतन की भीतरी लय पर ताल देना चाहिए।

सर्वोत्तम अभिनेता वे ही होंगे जिन्हें किसी विचार, भाव या संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए संपूर्ण शरीर का उपयोग करने का प्रशिक्षण मिला होगा। शब्दों के संपूर्ण अर्थ संप्रेषण के लिए उन्हें यथोचित शारीरिक हलचल का संसर्ग मिलना चाहिए। अगर हमारे स्कूल उचित रास्ते पर चलें तो लड़के और लड़कियां शारीरिक अभिव्यक्ति का प्राकृतिक वरदान कभी न खोएंगे, इस उद्देश्य के लिए शरीर के सारे अंगों का उपयोग करेंगे।

दुर्भाग्यवश, आज सभ्य समाजों में अंगसंचालन के जरिए अभिव्यक्ति का दमन किया जाता है, इसे अच्छा नहीं समझा जाता। चेहरे पर भावहीनता का आवरण भीड़ या अपरिचितों के बीच रहने में मददगार होता है, आप किसी का ध्यान नहीं आकर्षित करते और इसको अच्छा माना जाता है। निरंतर अभ्यास से हम वास्तविक भावनाओं और विचारों को छिपाने में दक्ष हो जाते हैं। कभी-कभी उस स्वतंत्रता, विचार और भाव को अभिव्यक्त करने की उस क्षमता का हम पुनः अनुभव करना चाहते हैं। तब हम आम लोगों की भीड़ से भिन्न ऐसे लोगों की सेवाएं प्राप्त करते हैं जिन्हें जन्म से ही इस कला में महारत हासिल है। आम लोगों ने तो इसे पूरी तरह खो दिया है। अभिनेताओं को हम पैसा देते हैं कि इस प्राकृतिक वरदान को वे परिष्कृत करें, कि उस चिरआकांक्षित आनंद को अनुभव करने का हमें अवसर मिले, जिसे प्राप्त करने में हम अपने शरीर के दमन के कारण अक्षम हो चुके हैं। महान अभिनेताओं को कोई भूमिका निभाते देखकर हम परजीवी सुख का अनुभव करते हैं। केवल कुछ विशिष्ट व्यावसायिक अभिनेताओं को हम सारे अंगों या समूचे शरीर के प्रयोग से विचारों की अभिव्यक्ति की अनुमति प्रदान करते हैं। तब हमें इस विषय पर एक बार गहराई से सोचना ही चाहिए कि शरीर और मस्तिष्क के बीच किसी नए तरह का समझौता संभव है या नहीं।

यह सही है कि अपरिचित लोगों के सामने हमारी भावनाएं स्वतःस्फूर्त और प्राकृतिक रूप से प्रकट नहीं हो सकतीं। इस कला के परिष्कार के लिए विशेष किस्म के प्रशिक्षण की जरूरत पड़ेगी। अपना स्कूल आप खोलिए तो मेरी सलाह होगी कि नाटक और अभिनय कला का अभ्यास सभी बच्चों के लिए अनिवार्य कीजिए। नाटक का प्रदर्शन शिक्षा का आवश्यक विषय होना चाहिए। बच्चों को शरीर के संपूर्ण और चारु संचालन के जरिए भावनाओं की अभिव्यक्ति का मौका चाहिए। अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में संपूर्ण शरीर के प्रयोग की क्षमता को नष्ट मत होने दीजिए। समष्टि की इकाई के रूप में मनुष्य अपनी वैयक्तिकता के दमन की चेष्टा कर सकता है। हमें इस भाव का प्रतिरोध करना होगा। अतः, शुरू से ही अपने स्कूल में नाट्यकला का समावेश कीजिए। यही एकमात्र रास्ता है।

टहलने की भी कुछ कक्षाएं रख सकते हैं, हफ्ते में एक बार, न हो तो रविवार को। बच्चों को और अध्यापकों को भी टहलते हुए बात करने और सीखने का अभ्यास होना चाहिए। पूरे हफ्ते उन्हें संग्रहालय की किसी मूर्ति की तरह बस बैठे नहीं रहना चाहिए। अगर आप टहलने का यह क्रम हफ्ते में एक बार से ज्यादा बना सकें तो और भी अच्छा। सोचने का स्वाभाविक सहकर्मी टहलना हो सकता है। जब मनुष्य खुद घुमक्कड़ या पदयात्री हो जाता है, तब उसकी बातचीत प्राकृतिक और स्वतःस्फूर्त हो उठती है। पाठ या विचार तब सहजता से मन में प्रविष्ट होता है, जब बातचीत अधिक ठोस हो जाती है।

शरीर की सभी हरकतों के दमन के चलते कई स्कूल मृतप्राय और निष्प्रभावी बने रहते हैं। सीखने की प्रक्रिया में शरीर के केवल एक अंग का उपयोग करना और इसके लिए दिमाग को मजबूर करना प्राकृतिक नहीं है। भोजन ग्रहण करने और पचाने के क्रम में जिंदगी की एक धुन चल रही है। इसमें हृदय, आंख, जीभ और कान अपनी-अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं। जब कोई अपना पाठ पढ़ रहा हो या कोई उपयोगी सूचना ग्रहण करने की चेष्टा कर रहा हो तो यही प्रक्रिया घटित होनी चाहिए। स्कूल की सहायता से आप सारी योग्यता को कुंठित कर सकते हैं, लेकिन जीवन संपूर्ण होना चाहिए। सभी योग्यताओं और कार्यों का उसे समायोजक होना चाहिए। स्कूल में जीवन में से कुछ भी मृत अथवा जड़ नहीं होना चाहिए। अपनी कक्षा में मैं सभी बालक-बालिकाओं को कूदने-फांदने, किसी पेड़ पर भी चढ़ने, कुत्ते या बिल्ली का दौड़कर पीछा करने या किसी पेड़ की शाखा से फल तोड़ने की अनुमति दे देता हूं। वस्तुतः इसीलिए मेरी कक्षा में भीड़ होती है, इसलिए नहीं कि मैं कोई कुशल अध्यापक हूं। दिमाग में मैं यह बात याद रखता हूं कि बच्चे को किसी शब्द के मानी सीखने या किसी वाक्य पर महारत हासिल करने में समूचे शरीर की जरूरत पड़ती है।

मुझे याद है, अंग्रेजी की कक्षा में मैं 'टीयर' (TEAR) क्रिया का मतलब फाड़ने की क्रिया के जरिए समझाना चाहता था। किसी किताब का एक पन्ना फाड़कर दिखा देना बहुत ही आसान था। बजाए इसके मैंने उन सबसे कहा कि किसी नजदीकी आम के पेड़ की फुनगी पर चढ़ जाओ, एक पत्ता तोड़कर फाड़ो, फिर लाकर मुझे दिखाओ। इस तरह शरीर के समूचे सहयोग से फाड़ने की क्रिया एक जीवंत प्रक्रिया बन गई। बहुत से अध्यापक यह सुनकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं कि मेरी कक्षा में लड़के हंसते हैं, चिल्लाते हैं या ताली बजाते रहते हैं। लड़का मुझसे पूछता है, 'दौड़ने जाऊं?' मैं कहता हूं, 'एकदम'। मैं जानता हूं, दौड़ने से उसके भीतर की कोई ऊब मिटेगी। जब वह ताजादम महसूस करने लगेगा, तब कोई ज्ञान ग्रहण करना और पचाना उसके लिए पहले की बनिस्बत आसान रहेगा। जब बच्चे थके होते हैं, उनका मस्तिष्क निष्क्रिय रहता है, जब शरीर की किसी

हरकत के बगैर उन्हें जड़ पात्र बने रहने को कह दिया जाता है, तब उनके लिए निर्जीव पाठ्यक्रम में से कुछ भी ग्रहण करना तकरीबन असंभव हो जाता है।

हमें समझना होगा कि वस्तुतः शरीर और मस्तिष्क एक ही हैं। अगर गांधी की तरह इस बात में आपका विश्वास है कि विवाहित होने के बाद भी ब्रह्मचारी का जीवन बिताना चाहिए तो मेरा कहना है कि इससे जीवन का कोई एक अंग अपूर्ण रह जाएगा। आप जीवन को भिन्न-भिन्न खानों में नहीं बांट सकते। कवि के रूप में मेरी एकमात्र इच्छा खुली हवा में टहलने और जब शरीर दिमागी लय पर ताल दे रहा हो, तभी कुछ लिखते रहने की है। इसी लय के मुताबिक मैं लिखना चाहता हूं। कभी धीमे टहलूंगा, विलंबित, कभी द्रुत, इस तरह अभिव्यक्ति में बदलावों के साथ समय की गति भी बदलती रहेगी। कविता लिखते हुए मेरा शरीर अपनी हरकतों से मेरी मदद करता रहेगा।

इसी तरह लड़कों के साथ स्कूल में होना चाहिए। उन्हें टहलते हुए पाठ याद करने दीजिए। उन्हें मुखर चिंतन करने दीजिए। मैं तो कहूंगा कि अगर संभव हो तो लड़के जब यात्रा पर निकलें तो अपनी नोटबुक साथ ले जाएं और कुछ लिखते रहें। ये नोट उन चीजों के बारे में होंगे जो वे अपने आसपास देखेंगे। प्राकृतिक इतिहास के तथ्य और उनके अवलोकन, देहाती दृश्यों के अनेक पहलू, सड़क या बाजार के उनके अनुभव, उनकी बातचीत के विषय, उनकी विशेष रुचियां इसमें दर्ज होने चाहिए। अपने आसपास के जीवन के सभी दृश्य विवरण उन्हें लिखना या चित्रित कर लेना चाहिए।

मैं तो उन्हें सिर पर बेचने के लिए सामान या बरतन या पानी के घड़े लेकर जाती संथाल औरतों को देखने के लिए प्रोत्साहित करता हूं। गाड़ीवानों के गाने या बाजार के दिन सड़क के विशेष चिह्न या खास आवाजें सुनने के लिए प्रेरित करता हूं। कभी-कभी बच्चे केवल निस्संग, भिन्न-भिन्न तथ्य नोट करते हैं लेकिन बाजार के दिन जब बैलगाड़ियां और औरतें कतार में जाती हैं, उस समय सड़क के किनारे चलना शरीर, मस्तिष्क, आंखों और कानों का व्यायाम है, शारीरिक क्रिया के साथ अवलोकन का अभ्यास है, टहलते हुए लिखने या चित्रकारी का अभ्यास है। शरीर और मस्तिष्क, आंखों और कानों के इस तरह के साथ-साथ समायोजन से यह अभ्यास अधिकाधिक जटिल और रुचिकर होता जाता है।

मुझे पूरा विश्वास है कि अगर पूरा शरीर अपने सभी कामों में सक्रिय रहता है तो हम कम समय में ज्यादा तेजी से सीख सकते हैं। फिलहाल मेरे स्कूल में 300 बालक-बालिकाएं हैं लेकिन इसे शुरू मैंने दस बच्चों से किया था। तब मैंने उन्हें शरीर और मस्तिष्क की स्वच्छंदता को विकसित करने के लिए उत्साहित किया था। पुराने वाले घर में बड़े बरामदे, लंबे गलियारे और खुली छत थी। क्रमी-कभी उन सबको मैं बरामदे

में लेता आता और कक्षा की जगह बदल देता। जब हम बीमार पड़ते हैं तो डाक्टर आबोहवा बदलने की राय देते हैं। तब स्वस्थ होने पर भी स्कूल में थोड़ी आबोहवा क्यों न बदलें? मैंने एक नियम बना लिया कि एक कक्षा खत्म होने के बाद दूसरी कक्षा के लिए जगह बदल दी जाए। हम लोग एक पेड़ की छाया से उठकर दूसरे पेड़ की छाया में पहुंच जाते। पांच मिनट का व्यवधान मैंने जरूरी बना दिया ताकि वे दौड़ भाग कर लें और दिमागी रुकावटों को दूर कर लें।

शास्त्री मोशाय जब तक पूरी कक्षा खत्म न हो जाए तब तक किसी छात्र को बाहर नहीं निकलने देंगे। वे अपनी कक्षा देर तक चलाएंगे ताकि अगले अध्यापक की डांट से बचने के लिए लड़के दौड़कर पहुंचें। लड़कों का बहुत सारा समय नादिरशाहों के संसर्ग में गुजरता है। अब दो नादिरशाही निजामों के बीच कुछ अंतराल तो उन्हें चाहिए ही चाहिए। एक घंटे से दूसरे घंटे के बीच लड़के जिस दबाव में रहते हैं, उसमें पांच मिनट का समय बहुत ज्यादा नहीं है।

लेकिन ज्यों ही आपने थोड़ी जमीन परती छोड़ी, उपयोगितावादी लोग उस पर झपट पड़ेंगे। वे कहेंगे, 'यह जगह खाली क्यों छूटी है? यहां भी एक फसल लगा दीजिए।' उन्हें अपने अध्यापन की दक्षता पर कुछ ऐसा घोर अंधविश्वास होता है कि वे यह समझ ही नहीं सकते कि न पढ़ाने का वक्त भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है, जितना औपचारिक अध्यापन। वे स्वभाव से उपयोगितावादी होते हैं। हरेक लम्हा उनके मुताबिक भरा होना चाहिए। 'न पढ़ाने' की कोई जगह या समय नहीं। शरीर तो बेचारा मारा गया। प्रकृति ने शरीर और मस्तिष्क में पूर्ण सामंजस्य बनाया है। मानवकृत सभ्यता ने पाठशाला की औपचारिकता के जरिए इन दोनों में संबंध विच्छेद करा दिया है, इनका आपसी नाता खत्म कर दिया है, इन दोनों के बीच खाई जितनी संभव हो उतनी चौड़ी बना दी है। लेकिन शरीर और मस्तिष्क अविच्छेद्य ढंग से जुड़े हैं। घाव भरने का सबसे उचित तरीका वह है, मस्तिष्क जिसकी सलाह दे। अंततः इस बात को स्वीकार किया जाने लगा है। सभ्यता ने इन दोनों के बीच बाधाएं खड़ी कर दी हैं। हमारा कर्तव्य है कि इन बाधाओं को समाप्त कर दें और इन दोनों के बीच आवागमन का स्वाभाविक पथ निर्मित करें। ग्रीक लोगों को इस अंतर्संबंध की जरूरत का भान था तभी उन्होंने शरीर और मस्तिष्क की संपूर्ण संगति अपनाई। उन्होंने अध्यापन को संगीत और खेलों से जोड़ रखा था।

फिर कुछ सोचते हुए वे बोले, 'काश, मेरा पुनर्जन्म होता और मैं अनाथ होता। आपके शिक्षासत्र में मेरा दाखिला होता। संतोष में नए विचारों के प्रति पर्याप्त खुलापन है और आप पर उन्हें अपार विश्वास है। दुनियावी मसलों में, संभव है, वे उतने सफल न हों, लेकिन विश्वास और प्रयास की उनमें कोई कमी नहीं।'

10. श्रीनिकेतन का दार्शनिक दृष्टिकोण

भारतीय आध्यात्मिक प्रयासों के केंद्र में मुक्ति या स्वतंत्रता का आदर्श विद्यमान है। बचपन में कान फूंकते हुए मुझे जो मंत्र, ध्यान के लिए जो पाठ दिया गया था, वह तीन उपनिषदों के तीन भिन्न वाक्यों से निर्मित था। आत्मिक स्वतंत्रता हासिल करने की मेरी आध्यात्मिक यात्रा में यह मंत्र पथ प्रदर्शक बना रहा। पहले इसका मैं केवल पाठ किया करता था, मेरे लिए इसका अर्थ भाषाशास्त्रीय मात्र था। जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया, जीवन के अनुभव प्राप्त होते गए, इन शब्दों के गहनतर अर्थ धीरे-धीरे मेरे दिमाग में खुलते गए।

पाठ है : *सत्यम् ज्ञानम् अनंतम् ब्रह्मा, आनंदरूपममृतम् यद्विभाति, शांतम् शिवम् अद्वैतम्*। 'ब्रह्म सत्य है, वही ज्ञान है, वह अनंत है; वह आनंद के अमर रूपों में प्रकाशित होता है; वह शांति है, वही कल्याण है, वह अद्वैत है।'

जन्म लेते समय हमें एक ही सत्य की चेतना होती है। दूसरे सभी सत्यों के ज्ञान की पृष्ठभूमि वही प्रदान करता है। यह *अपने* होने का सत्य है। इसमें एक आंतरिक सत्य और कुछ बाहरी अभिव्यक्तियां समाहित होती हैं। अभिव्यक्तियों को प्रमाणित किया और नापा जा सकता है लेकिन आंतरिक सत्य को नहीं। यह वह भीतरी आत्म है जो बाहरी अभिव्यक्तियों को एकता प्रदान करता है। ऐसे अनेक लोग हैं जो मेरी चेतना की हलचलों या मेरे बहिर्गत आत्म के विविध तथ्यों को ही वास्तविक मानते हैं, मेरे भीतर के आंतरिक सत्य को वास्तविक नहीं मानते, जो एक है। उस सत्य, उस अद्वैत के अस्तित्व का अनुभव करने के लिए मुझे किसी तर्क की आवश्यकता नहीं, जो न सिर्फ मेरे जीवन के सभी तथ्यों को आविष्ट किए हुए है, बल्कि उन सबके परे भी है।

इस सत्य के आत्मस्थ प्रकाश के कारण ही मैं जानता हूं कि जिसमें मैं रहता हूं अनंत गतिविधियों से युक्त उस विश्व का एक आंतरिक सत्य है, जो एक है और जो इस ब्रह्मांड के बारे में हमें ज्ञात असंख्य तथ्यों को वास्तविकता प्रदान करता है। जब हम इस आंतरिक सत्य को महसूस करते हैं, हमें *आनंद* का अनुभव होता है क्योंकि आनंद के जरिए ही हम अपनी वास्तविकता की शाश्वत संगति प्राप्त करते हैं।

बहुधा हम मनुष्य के वास्तविक सत्य की उपेक्षा कर बैठते हैं और उसके बारे में केवल सतही तथ्यों तक सीमित रह जाते हैं। जो आदमी मुझे कुछ चीजें बेचता है वह मेरे लिए एक तथ्य मात्र हैं। जिस आदमी को मैं नौकर के बतौर काम पर रखता हूं,

वह मेरे जीवन के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों के लिए उपयोगी तथ्यों का संग्रह मात्र है। इन तथ्यों के माध्यम से मेरे जीवन की कई जरूरतें पूरी होती हैं, लेकिन मुझे आनंद नहीं मिलता। मुझे आनंद तो तभी मिलेगा जब मैं अपने *भीतर के सत्य* और दूसरों, उदाहरण के लिए नौकर के भीतर के *सत्य* के बीच की संगति का अनुभव कर लूंगा। जो हमें प्यारे होते हैं, उनका भीतरी सत्य हमें प्रत्यक्षतः ज्ञात होता है क्योंकि उनके साथ आपसी आध्यात्मिक एकता का हम आसानी से अनुभव कर लेते हैं। यह भीतरी सत्य उनके बाहरी जीवन में लगातार अभिव्यक्त हो रहा है। उनकी बाहरी गतिविधियां हमारे जीवन के उद्देश्य के लिए महत्वहीन हो सकती हैं। यही नहीं, कभी-कभी वे हमारे लिए बाधक जीवन भी बन जाती हैं। फिर भी वे हमारे जीवन के लिए परम महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे वही आंतरिक सत्य हैं, उसी आंतरिक सत्य के साक्षात स्वरूप हैं, जो मेरा भी आंतरिक सत्य है।

वस्तुतः, हम इसके लिए स्वतंत्र हैं कि इस दुनिया को ऐसे तथ्यों के एक संग्रह की तरह ग्रहण करें जो किसी आंतरिक सत्य से एकदम संबद्ध नहीं हैं, मानो हमारे अपने व्यक्तित्व के भीतर गहरे जो सत्य छिपा है, उससे इनकी कोई एकता नहीं। अपने वातावरण से इस तरह का व्यवहार कर हम धनी और शक्तिसंपन्न भी हो सकते हैं, लेकिन इससे हमारी आत्मा को कोई संतोष नहीं मिलेगा। इस तरह के संबंध में हम वह गहनतर स्वतंत्रता भी नहीं प्राप्त कर पाएंगे, जो हमें आनंद देती है। सच्ची स्वतंत्रता हमारे साथियों के साथ हमें बांधे रखने वाले बंधनों को तोड़ देने में नहीं है, बल्कि बंधनों के सत्य के उस अनुभव में निहित है जब हमें भिन्न अस्तित्व की तरह बंधने की जरूरत ही नहीं रह जाती। प्रकृति की दुनिया में निरंतर चलने वाले अस्तित्व के संघर्ष में हम शामिल रह सकते हैं, लेकिन भाव जगत में हमें महत अद्वैत के साथ अपने संबंध का अनुभव करना चाहिए और हम यह अनुभव कर सकते हैं। *सत्य* एकात्मता के इसी अर्थ में निहित है, इसी एकात्मता में *मुक्ति* निहित है।

हमारा आंतरिक सत्य केवल अस्तित्वमान नहीं है, बल्कि ज्ञानवान भी है। बाहरी गतिविधियों में यह व्यक्त हो सकता है, लेकिन भीतर स्वतःज्ञात उद्देश्य से यह ऐक्यबद्ध है। इस गहनतर सत्य के आलोक में हम देखते हैं कि इस ब्रह्मांड में व्यक्त *सत्यम् ज्ञानम्* भी है, प्राप्त ज्ञान की शाश्वत वास्तविकता है। हम कुछ नहीं जान पाएंगे, अगर हमारा जानना अस्तित्वमान और घटित का अंग नहीं है, अगर सारी सांसारिक हलचलें ज्ञान के किसी सामान्य संयोजन से संबद्ध नहीं हैं। इसलिए गहनतम स्वतंत्रता हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब अपने सभी संबंधों में निहित *ज्ञानम्* हम प्राप्त कर लें। इस उद्देश्य के लिए हमें निरंतर आत्मज्ञान को विस्तृत करना होगा, अनुभव को समृद्ध करना होगा

और आत्मतोष की वृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करना होगा। *ज्ञानम्* चूंकि *ब्रह्म* का लक्षण है, जो स्वयं सर्वोच्च सत्य है, इसलिए हम अपने व्यक्तिगत संबंधों में भी *ज्ञानम्* का अनुभव कर सकते हैं, जब कभी और जहां ये संबंध निःस्वार्थ की शाश्वत महत्ता में अपने को अभिव्यक्त करें। इसी तरह के संबंधों के जरिए हम मुक्ति का अनुभव करते हैं।

हमारा आंतरिक सत्य न केवल अस्तित्वमान और ज्ञानवान है बल्कि अपने आपको प्रकाशित करने में, अपने आपको बहिर्गत करने में आनंद अनुभव करता है। अपने भीतर की प्रचुरता की गहन चेतना से ही अभिव्यक्ति को सच्चा रूप प्राप्त होता है। हमारी सतही आत्मा मात्र हमारी सीमा है, जिसे हम अपने भीतर-बाहर बसाए हुए हैं।

यदि सतही आत्मा ही अपने आप में संपूर्ण वास्तविकता है तो किसी भी तरह उसका नियंत्रण हमारी चरम मूर्खता होगी। लेकिन अनुभव में हम पाते हैं कि आनंद की हमारी सभी अभिव्यक्तियां हमारे आंतरिक आत्म की बहिर्गति हैं। दरअसल, हमारा आत्मत्याग ही हमारे आंतरिक सत्य के ज्ञान को नापने का पैमाना है। विज्ञान और दर्शन की दुनिया में हमारे ज्ञान ने जो महान धारणाएं प्रस्तुत की हैं, उन्हें किसी तात्कालिक जरूरत के दबाव के तहत नहीं प्रस्तुत किया है, बल्कि स्वयं संपूर्ण और सर्वावेशी कल्पना के आनंद के तहत प्रस्तुत किया है। इसीलिए जीवन के सभी विभागों और घटकों में गहन सत्य के अन्वेषी अक्सर अपनी निजी भौतिक सुख-सुविधाओं का ध्यान नहीं रख पाते। यहां तक कि प्रागैतिहासिक काल के गुहावासी मनुष्य को भी पशुओं के चित्रों से अपनी गुफा को सजाने में, अपनी सृजनात्मक कल्पना का प्रयोग करने में पर्याप्त समय और ऊर्जा लगानी पड़ी होगी। पशुओं का शिकार करने में उसके समय का ज्यादा व्यावहारिक और फलप्रद उपयोग हुआ होता। तब आखिर अपने भीतर की सृजनात्मक आकांक्षा की अभिव्यक्ति को छोड़कर उसे ऐसा करने के लिए कौन सी ताकत मजबूर कर पाई होगी?

अपनी दैनिक जरूरतों के तहत जो काम हम करते हैं वे रचनात्मक हो सकते हैं, लेकिन इस शब्द के सच्चे अर्थों में सृजनात्मक तो कतई नहीं हो सकते। जब कोई महान प्रतिभाशाली मनुष्य पूर्णता के आदर्श की अभिव्यक्ति के लिए कोई काम करता है, चाहे वह काम रूपाकारों में हो, विचारों की दुनिया में हो या कोई सेवा हो, तो वह अपने भीतर की अनंत चेतना को ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इस तरह, हम अपने आंतरिक अनुभव से जानते हैं कि *ब्रह्म* न केवल *सत्यम्*, न केवल *ज्ञानम्* है, बल्कि *अनंतम्* भी है। अगर ऐसा न हो तो सृजनात्मक कार्य और जीवन, प्रेम और आत्मबलिदान के गहन क्षेत्रों में हमारे सभी प्रयास यथार्थ का अपना आधार ही खो देंगे।

हमारे पास का दूसरा हिस्सा है : *आनंदरूपममृतम् यद्विभाति*। '*ब्रह्म* आनंद के अमर रूपों में प्रकाशित होता है।' हमारी सर्वोत्तम सृष्टियों में भी अमरता का यही रूप अथवा

गुण होता है। क्योंकि वे उसी आनंद की बहिर्गति हैं, जो पूर्णता की हमारी चेतना, आदर्श की हमारी समाविष्टि के साथ स्थित होता है।

हमारे पाठ का अंतिम हिस्सा है : *शांतम् शिवम् अद्वैतम्*। '*ब्रह्म* शांति है, कल्याण है, अद्वैत है।' सर्वोच्च अस्तित्व, *ब्रह्म*, अपनी अभिव्यक्तियों में *सत्यम्-ज्ञानम्-अनंतम्* है। इन्हीं तीन गुणों के समानांतर तीन दूसरे पहलू भी वह प्राप्त कर लेता है।

हमारे दैनिक अस्तित्व में *शांतम्* कानूनव्यवस्था द्वारा रक्षित संगति से उत्पन्न होता है। मानव जगत में कानूनव्यवस्था हमारे दैनिक जीवन की सामान्य प्रक्रियाओं, हमारे अस्तित्व की बाहरी जरूरतों के लिए आवश्यक (सांसारिक) स्वतंत्रता प्रदान करती है।

ज्ञानम् के भीतरी जगत में सचेत संबंधों की आंतरिक संगति में पूर्णता का आदर्श समाया रहता है। इस आंतरिक संगति का चरित्र कल्याण या प्रेम है। कानून के द्वारा हम अस्तित्व की बाहरी दुनिया में शांति की स्वतंत्रता प्राप्त करते हैं, कल्याण या प्रेम के जरिए हम गहरे सामाजिक संबंधों की दुनिया में स्वतंत्रता प्राप्त करते हैं। यह स्वतंत्रता सभंव है, क्योंकि सत्य *शांतम्* है, *शिवम्* है, शांति है, कल्याण है, प्रेम है।

ब्रह्म अद्वैतम् भी है। इसे हम तब जानते हैं जब दूसरों के साथ प्रेम में अपनी एकात्मता के जरिए सच्चे अर्थों में आत्मा की स्वतंत्रता प्राप्त करते हैं। स्वतंत्रता जब बंधन स्वीकार करने का साहस कर पाती है, जब उसका लक्ष्य बोझ नहीं रह जाता है, जब स्वंतत्रता की जिम्मेदारियां खुशी-खुशी ढो ली जाती हैं, तभी उसकी सच्ची सिद्धि होती है। संसार की बहुत सी हलचलें सुंदर हैं, क्योंकि संसार के मूल में शांति का कानून है, शांति का साम्राज्य है। इसी कानून के कारण विश्व को वह लय और संतुलन प्राप्त है, जो आंतरिक स्वतंत्रता का बाह्य प्रमाण है।

मानवसमाज में कल्याणभावना के उदय में वही विभुता शामिल रहती है जिसके कारण जिम्मेदारियों को निभाने में एक खास तरह की भव्यता, एक खास तरह की मृदुता आ जाती है। इस विभुता में प्रतिबिंबित होकर हमारी गतिविधियां स्वतंत्रता प्राप्त कर लेती हैं। प्रेम में असंख्य मुसीबतें भारहीन हो जाती हैं। उनका भार हम इच्छापूर्वक ढोते हैं ताकि आत्मा की स्वतंत्रता को हम सिद्ध कर सकें। आत्मा की यह स्वतंत्रता हमें दूसरों के साथ ऐक्यबद्ध होने, अपनी सीमाओं के परे जाने से मिली है। यह इसलिए संभव है क्योंकि *ब्रह्म अद्वैतम्* है, एक है।

व्यक्ति के रूप में हम सबमें विशिष्ट ढंग से जीवित प्राणियों में पाई जाने वाली एकता विद्यमान है। सामाजिक प्राणी के रूप में जिसे हम मानवता कहते हैं, उस जटिल संरचना के हम सब अंग हैं। आध्यात्मिक प्राणी के रूप में हम उस बृहत्तर यथार्थ के अंग हैं, जो *अनंतम्* है, कल्याण रूप है और जो सर्वाश्लेषी है।

प्रत्येक जीवित प्राणी में आत्मरक्षा का गुण और जरूरत होती है। व्यक्ति की शिक्षा में उसके व्यक्तिगत जीवन की संपूर्ण देखरेख का प्रशिक्षण शामिल होना चाहिए। अगर ऐसा न होता तो न सिर्फ वह लाचार हो जाएगा, बल्कि आत्मरक्षा का उसका यह गुण पूरी तरह क्षीण भी हो सकता है। इसी गुण के प्रयोग से उसे जीवन का सच्चा आनंद प्राप्त होता है। आम तौर पर शिक्षा की हमारी प्रक्रिया में अपना भौतिक जीवन कैसे बिताएं, इसका प्रशिक्षण उपेक्षित रहता है। हम *शांतम्* खो देते हैं, जिस पर सुसंगठित अस्तित्व की आत्मनिर्भर स्वतंत्रता आश्रित है।

हमारे व्यक्तिगत जीवन के सामाजिक जीवन और फिर इन दोनों के व्यापक मानव जीवन के साथ समायोजन के लिए आत्मा के प्रशिक्षण और परस्पर जिम्मेदारी के स्वीकारभाव की जरूरत पड़ती है। हमारी शैक्षिक संस्थाओं में इस प्रकार के समायोजन का प्रशिक्षण और अनुभव दुर्लभ हैं। निस्संदेह, उनमें आत्म नियंत्रण का अनुशासन सिखाया जाता है और इसके प्रयोग की जरूरत भी बताई जाती है, लेकिन समाज सेवा की भावना, जिसके लिए सटीक सूचनाओं का संग्रह और उनकी छानबीन आवश्यक होती है, और हमारी शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक क्षमताओं का अनुभव और उनका प्रयोग अकसर उपेक्षित रह जाते हैं। हमारे छुटपन में ही पैदा हो गई इस कमी का दुष्प्रभाव अपने आसपास के कष्टकर वातावरण को स्वीकार कर लेने में दिखाई पड़ता है, गरीबी, बीमारी, अज्ञान और बुद्धि और इच्छा की दुर्बलता में दिखाई पड़ता है। यह दुष्प्रभाव संकीर्णतावाद, संस्थानवाद, राष्ट्रवाद की संस्कृति से जुड़े आक्रामक अहं भाव और निजी दावेदारी में भी दिखाई पड़ता है। ये वाद मानव जगत में बदतरीन मतभेद और धार्मिक अंधता के जनक हैं। सहानुभूतिमूलक समझदारी के इस प्रशिक्षण के अभाव के चलते मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में सच्ची स्वतंत्रता की बुनियाद से वंचित रहता है। यह स्वतंत्रता तो दूसरों के कल्याण और परस्पर सहानुभूति और सहकार के व्यापक वातावरण निर्माण की जरूरत की गहरी समझदारी से प्राप्त होती है।

मैंने पहले ही कहा है कि विश्व को केवल बाहरी तथ्य के बतौर देखने से आनंद नहीं प्राप्त होता। जब तक हम यह नहीं जानते कि इस विश्व की पृष्ठभूमि और बुनियाद में सत्य की संपूर्णता है, तब तक इसके साथ हमारे संबंध उपयोगितावादी ही बने रहेंगे। अपने आंतरिक आध्यात्मिक जगत में अगर हम ब्रह्मांड में कोई आंतरिक संगति या इसके होने का कोई अर्थ नहीं तलाश पाएंगे तो हम अपने आपमें विश्वास खो देंगे और अपने सारे संसाधनों को तात्कालिक स्वार्थ की सेवा में लगा देंगे। सामान्य तौर पर हमारी शिक्षा की प्रक्रिया सर्वोच्च सत्य के साथ हमारे आंतरिक आध्यात्मिक संबंध का अनुभव कराने की दिशा में कोई प्रशिक्षण नहीं उपलब्ध कराती। इस प्रशिक्षण के लिए आवश्यक त्याग

की भावना का हम विकास नहीं कर पाते। त्याग से ही उस व्यापक वातावरण का निर्माण होता है जो हमारी आत्मा का स्वाभाविक निवासस्थल है और जहां कल्पनाप्रसूत सृजन का अवकाश, आकाश और संतुष्टि प्राप्त होते हैं। त्याग के इस आकाश तले ही विज्ञान, दर्शन, कला और साहित्य की दुनिया में हमारी रचनाएं अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकती हैं।

कभी-कभी यह आपत्ति प्रकट की जाती है कि ये रचनाएं महज अमूर्तन हैं। हो सकता है। लेकिन तब संगीत इसलिए मूल्यवान है क्योंकि वह दैनंदिन जीवन की आवाजों से भिन्न है। संगीत जीवन के रोज-ब-रोज के शोर से अलग एक ऐसे असंपृक्त संसार में फलता-फूलता है जिसमें अपना आनंद वह आप है। इस अमूर्तन, इस अलगाव, इस त्यागभाव के कारण ही वह हमारे जीवन को और समृद्ध करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

पृथ्वी के निकट संपर्क से अपनी दूरी और स्वतंत्रता के चलते भाप ऊपर आकाश में बादलों का रूप प्राप्त कर लेता है और वर्षा का वरदान बनकर पुनः हमारे पास लौट आता है; हवा स्वच्छ और पृथ्वी उपजाऊ हो जाती है। इसी तरह हमारा ज्ञान, हमारी भावनाएं और हमारे अनुभव वृद्धि और विकास के एक स्तर पर पहुंचकर जीवन से अमूर्त हो जाते हैं, शाश्वत के हृदयस्थल में प्रवेश करते हैं, जो कुछ भी असार है उसे छोड़ देते हैं और पुनः जीवन में नई गति, नए प्रभाव के साथ लौट आते हैं। उनके प्रभाव से जीवन की अब तक प्रसुप्त असंख्य शक्तियां जैसे नींद से जाग उठती हैं।

जिनके दिमाग तात्कालिक या दैनंदिन जरूरतों की सेवा में लगे हैं, जीवन की पृथ्वी के आसपास ही झूलते रहते हैं, उनका विकास धीमा होता है। दिमाग को स्वतंत्र विश्वदृष्टि की खोज के लिए अमूर्तन के आकाश में ऊंची उड़ान भरनी चाहिए, मात्र अपनी खुशी के लिए अनंत के अंतस्तल में प्रवेश कर जाना चाहिए और वापस फिर दुनिया के अपने घोंसले में लौट आना चाहिए।

सारी महान सभ्यताओं में एक जीवनचक्र है जिसके तहत वे अपने साहसिक दिमागों को ऊंचे और व्यापक आकाश की यात्रा के लिए भेजते हैं और फिर वापस उन्हें ठोस जमीन पर लौटा लाते हैं। पृथ्वी का दम घुट जाएगा अगर उसके चारों ओर वातावरण न हो, चाहे हमें यह वातावरण अपरिभाषेय, अदृश्य और असार ही क्यों न प्रतीत हो। कुल के बावजूद आखिर वातावरण के जरिए ही तो वायु और प्रकाश के साथ संपर्क बना रहना संभव है; इसी तरह मनुष्य के दिमाग को भी त्याग का अपना वातावरण प्राप्त करना चाहिए, जहां हमारे दैनंदिन जीवन की जरूरतों को पूरा करना हमारा तात्कालिक उद्देश्य न हो। बल्कि उसका उद्देश्य विचार, भावना और इच्छा की दुनिया में मनुष्य की अपार

क्षमता की सर्वोत्तम अभिव्यक्तियों, सृजनात्मक कार्यों से जीवन को समृद्ध बनाना हो। हमारा आदर्श घरों और विद्यालयों में उस माहौल की रचना होना चाहिए, जहां सर्वोच्च अस्तित्व के साथ हमारे आध्यात्मिक संबंध का विकास हो। इससे जीवन के सभी विभागों में स्वतंत्रता की अनुभूति प्राप्त होती है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि अनंत की गहनतर चेतना से हीन जीवन स्वतंत्रता के नाम पर परतंत्रता के नवीनतर और नानाविध रूप ही पैदा कर पाएगा।

इसी सिलसिले में मुझे एक अन्य जगह से एक उद्धरण देने की अनुमति दीजिए। यह बात मैंने आदर्श शैक्षिक संस्थान की अपनी योजना का खुलासा करते हुए कही थी :

भारत के धार्मिक जीवन का अनिवार्य आदर्श *मुक्ति* है। इसका अर्थ है आत्म की जद से मनुष्य की आत्मा की आजादी और *आनंद* के साथ एकात्मकता के जरिए सर्वात्म में, ब्रह्मांड में इसका एकाकार होना। आध्यात्मिक संगति का यह धर्म कोई सांप्रदायिक संदेश नहीं है कि घंटे-आध घंटे रोज कक्षा में पढ़ा दिया जाए। यह हमारे आसपास के वातावरण का आध्यात्मिक सत्य और उसके प्रति हमारे रुख का आध्यात्मिक सौंदर्य है। यह अनंत के साथ हमारा चेतन संबंध है और हमारे जीवन के गतिमान क्षणों में शाश्वत की अक्षय शक्ति है। यह धार्मिक आदर्श तभी संभव किया जा सकता है, जब छात्रों के लिए प्रकृति के निकट संपर्क में रहना अनिवार्य बनाया जाए। वे रोज ऐसे माहौल में पलें-बढ़ें जहां सभी जीवों की सेवा की जाती हो, पेड़ों का पालन-पोषण होता हो, चिड़ियों और जानवरों को खाना-दाना दिया जाता हो; और जहां वे पृथ्वी, जल और वायु के अकूत रहस्यों को महसूस करना सीख सकें।

इसी के साथ जमीन जोतने वालों और आस-पड़ोस के गांवों के विनम्र मेहनतकशों के साथ जीवन की कुछ साझेदारी हो, छात्र उनके शिल्प सीखें, अपने सहभोज में उन्हें बुलाएं, सामुदायिक कल्याण के सहकारी प्रयासों में उनका साथ दें। इस कार्य में हमारा मार्गदर्शक कोई नीति वचन या सामाजिक श्रेष्ठतावश की गई कृपालुता न हो, बल्कि इसके मूल में जीवन के साथ जीवन की सहजानुभूति, अपनी खुशी के लिए प्रेम में किया गया प्रतिदान हो। इसी तरह के वातावरण में छात्र सीख और समझ सकेंगे कि मानवता कई तारों से युक्त एक दिव्य वीणा है जिसे अपने महान संगीत की प्रतीक्षा है। जिन्हें इस एकता की समझ हैं वे भविष्य के मानवीय महामिलन के त्याग भरे रास्ते पर दुःखों की रात में चलते तीर्थयात्री हैं। इस महामिलन का आमंत्रण हमें अंधेरे के पार भी मिलता रहता है।

इस तरह के संस्थान में जीवन सादा और स्वच्छ होना चाहिए। हमें इस बात पर कभी कान नहीं देना चाहिए कि जीवन में सादगी होने से हम अपने समकालीन समाज

की जरूरतों के लिए अयोग्य हो जाएंगे। बाजे के तारों के उलझाव के कारण आज बजाने वाले गज की सादगी और जरूरी हो गई है। अपने जीवन की सुबह-सुबह हमारे स्वभाव को शुद्ध, पूर्ण आध्यात्मिक आदर्श की लय चाहिए ताकि बाद के वर्षों में समस्याओं की आंच हम बरदाश्त कर सकें।

दूसरे शब्दों में इस संस्था को अध्यापकों और छात्रों की आत्मा के विकास के साथ-साथ उनके उत्साह को सहकारी प्रयास की तरह निरंतर निर्मित होना चाहिए। इसे अपने आपमें एक दुनिया होना चाहिए, स्वपोषित, आत्मनिर्भर, नित नवीकृत जीवन से समृद्ध, दिक्काल में जीवन का प्रकाश फैलाती हुई दुनिया होना चाहिए, निर्भर जीवनपिंडों को आकर्षित और संतुलित रखने वाले सौरमंडल की तरह होना चाहिए। इसका उद्देश्य ऐस संपूर्ण मनुष्य में प्राणवायु फूंकना होना चाहिए, जो बौद्धिक भी हो और आर्थिक भी, जो सामाजिक बंधनों से बंधा हो पर आध्यात्मिक स्वतंत्रता और अंतिम संपूर्णता के लिए प्रयासरत हो।

भाग तीन

परिशिष्ट

1. तोते की शिक्षा

रवींद्रनाथ ठाकुर

किसी समय कहीं एक चिड़िया रहती थी। वह अज्ञानी थी। वह गाती बहुत अच्छा थी लेकिन शास्त्रों का पाठ नहीं कर पाती थी। वह फुदकती बहुत थी, लेकिन उसे तमीज न थी।

राजा ने अपने मन में सोचा : 'इसके भविष्य के लिए अज्ञान कोई अच्छी चीज नहीं कि मूर्ख पेट भर खा तो जाते हैं, लेकिन कोई फल नहीं प्रदान करते।'

उसने अपने भतीजों-भानजों को बुलाया और हुक्म दिया कि चिड़िया को गंभीर शिक्षा दी जाए।

पंडित बुलाए गए, मामले की नब्ज उन्होंने तुरंत पकड़ ली। वे इस निर्णय पर पहुंचे कि बदशक्ल घोंसलों में रहने की स्वाभाविक आदत ही चिड़िया के अज्ञान का मूल कारण है। इसलिए पंडितों ने कहा कि चिड़िया की शिक्षा के लिए सबसे जरूरी है : एक सुंदर पिंजरा।

पंडितों ने दक्षिणा पाई और खुशी-खुशी घर लौटे।

सोने का पिंजरा बना। उसकी भव्य सजावट की गई। दुनिया भर से लोग उसे देखने आए। 'सुरक्षित और पिंजरबद्ध, साक्षात संस्कृति!' परमानंद से विभोर हो कुछ लोग चिल्ला पड़े, उनके आंसू रोके न रुके। कुछ ने कहा, 'संस्कृति हो, न हो, पिंजरा तो एक वस्तुगत तथ्य की तरह अंततः बना ही रहेगा। चिड़िया के तो भाग्य जगे!'

लुहार ने पैसे-रुपए से थैला भरा और चटपट घर को रवाना हो गया।

चिड़िया को शिक्षा देने के लिए पंडित बैठे। नपे-तुले शब्दों में सुंघनी सूंघकर पंडित जी बोले, 'हमारा काम केवल पाठ्यक्रम भर की किताबों से नहीं चल सकता।'

भतीजे-भानजे दौड़े। नकलनवीसों की भीड़ लग गई। उन्होंने पोथियों की नकल उतारी, नकल की नकल उतारी। आसमान तक पांडुलिपियों का ढेर लग गया। चकित हो कुछ लोग बोल पड़े। 'ओह, संस्कृति स्तंभ ! परम उत्कर्ष ! इसकी चोटी तो बादलों में छिप गई है !'

नकलनवीसों की जेबें भरीं। वे दिल में प्रसन्न हो उठे। अपने-अपने घर चले।

भतीजे-भानजे पिंजरे की एकदम सही काटछांट के काम में व्यस्त रहे। उन्होंने पिंजरे को मांज-मांज कर चमका दिया। लोग संतोष से कह उठे : 'सचमुच प्रगति इसी को कहते हैं।'

असंख्य लोगों को काम पर लगा दिया गया। काम के निरीक्षक तो उनसे भी अधिक रखे गए। वे और उनके दूर-दूर के नातेदारों ने रहने के लिए महल बनवाए और खुशी-खुशी उनमें सदा निवास किया।

इस काम में जो भी खामियां रही हों, दुनिया में मीनमेख निकालने वालों की कभी कोई कमी नहीं रही। उन्होंने कहना शुरू किया कि दुनिया के सभी प्राणियों का पिंजरे के भीतर वर्णनातीत विकास होता लेकिन चिड़िया इस नियम का अपवाद है।

जब यह बात राजा के कानों तक पहुंची, उसने अपने भतीजे-भानजों को बुलवाया और कहा, 'मेरे प्यारे भतीजे-भानजो ! यह मैं क्या सुन रहा हूं ?'

भतीजे-भानजों ने जवाब में कहा, 'महाराज, यदि सत्य को जानना ही है तो लुहारों और पंडितों, नकलनवीसों और निरीक्षकों से हलफनामा ले लिया जाए। मीनमेख निकालने वालों को आजकल कोई दूसरी बात नहीं मिल रही है, इसीलिए उनकी जबान लंबी हो गई है।'

यह स्पष्टीकरण दिन की तरह साफ और संतोषजनक था। राजा ने भतीजे-भानजों को अमूल्य मणि-माणिक्य से लाद दिया।

राजा के मन में समय बीतने पर अपनी आंखों से यह देखने की इच्छा जागी कि शिक्षा विभाग छोटी सी चिड़िया को कैसे सिखा-पढ़ा रहा है। एक दिन वे स्वयं चलकर शिक्षा के महान महल पहुंचे।

दरवाजे पर शंख और घंटा ध्वनि हुई। तुरही, बिगुल और नरसिंहा, झांझ, नगाड़े, नक्कारे, ढोल, डफली, बांसुरी, वंशी, नाल और मशकबीन गूंजने लगे। सप्तम सुर में पंडितों ने मंत्रघोष किया। लुहारों, नकलनवीसों, निरीक्षकों और उनके दूर-दूर के नातेदारों ने बारंबार जयकारा लगाया।

भतीजे-भानजे मुसकराए और कहा, 'महाराज, कैसा लग रहा है?'

राजा ने कहा, 'यहां तो शिक्षा के किसी गहन सिद्धांत का आभास मिल रहा है!'

खुश-खुश राजा अपने हाथी पर सवार होने वाला ही था कि किसी झाड़ी के पीछे से मीनमेख निकालने वाला बोल पड़ा, 'महाराज, आपने चिड़िया को देखा ?'

राजा ने कहा, 'ना, नहीं देखा ! चिड़िया को तो मैं भूल ही गया।'

घूमकर राजा ने पंडितों से पूछा कि चिड़िया की शिक्षा में आप किस पद्धति का अनुगमन कर रहे हैं। चिड़िया हाजिर की गई। वे अत्यंत प्रभावित हुए। पद्धति ही इतनी भारी

भरकम थी कि उसके मुकाबले चिड़िया की बात करना फिजूल था। राजा संतुष्ट हुए कि व्यवस्था में कोई कमी नहीं है। चिड़िया कोई शिकायत कर सके, इसकी उम्मीद ही नहीं थी। उसका कंठ पोथियों के पन्नों से अंटा पड़ा था। वह न चीख सकती थी, न फुसफुसा सकती थी। इस प्रक्रिया को देखने से शरीर में झुरझुरी पैदा होती थी।

अब की बार हाथी पर सवार होते हुए राजा ने राजकीय कान उमेठने वाले को आदेश दिया कि मीनमेख निकालने वाले के दोनों कान मजबूती से उमेठ दिए जाएं।

इस तरह चिड़िया धीरे-धीरे एक-एक कदम निरर्थकता के सुरक्षित साम्राज्य में बढ़ती गई। वस्तुतः उसकी प्रगति चरम संतोषजनक थी। बावजूद सब कुछ के, कभी-कभी प्रकृति प्रशिक्षण पर भारी पड़ जाती है। सुबह की पहली किरण जब चिड़िया के पिंजरे में झांकती तो कभी-कभी चिड़िया असभ्यतापूर्वक पंख फड़फड़ाती। हालांकि इस पर विश्वास करना कठिन है, लेकिन वह पिंजरे की सलाखों पर कमजोर चोंच से दयनीय प्रहार भी करती थी।

'क्या गुस्ताखी है !' कोतवाल गरजा।

लुहार मय अपनी भट्ठी और हथौड़े के राजा के शिक्षा विभाग में हाजिर हुआ। क्या भयंकर चोटें पड़ीं। जल्दी ही लोहे की जंजीर तैयार हो गई और चिड़िया के पंख कतर दिए गए।

राजा के साले-बहनोई काले पड़ गए। सिर हिलाकर उन्होंने कहा, 'इन चिड़ियों में विवेक की कमी तो है ही, कृतज्ञता भी ये नहीं जानतीं।'

एक हाथ में पाठ्य-पुस्तक और दूसरे हाथ में छड़ी लेकर पंडितों ने, जिसे सुविधापूर्वक पाठ कहा जाता है, वह पढ़ाना शुरू कर दिया !

कोतवाल को उसकी सावधानी के लिए और लुहार को जंजीर गढ़ने की कुशलता के लिए पदवी प्रदान की गई।

चिड़िया मर गई।

किसी को अंदाजा नहीं कि इस घटना को घटे कितना समय बीत गया। मीनमेख निकालने वाले ने सबसे पहले अफवाह फैलाई।

राजा ने अपने भतीजे-भानजों को बुलवाया और पूछा, 'मेरे प्यारे भतीजे-भानजो, यह मैं क्या सुन रहा हूं?'

भतीजे-भानजों ने कहा, 'महाराज, चिड़िया की शिक्षा पूरी हो गई।'

राजा ने पूछा, 'वह फुदकती है?'

भतीजे-भानजों ने कहा, 'कभी नहीं!'

'उड़ती है?'

'एकदम नहीं!'

'चिड़िया लाओ,' राजा ने आदेश दिया।

चिड़िया लाई गई। उसकी सुरक्षा में कोतवाल, सिपाही और घुड़सवार साथ चल रहे थे। राजा ने चिड़िया को उंगली से टहोका। उसके भीतर केवल किताबों के पन्ने सरसराए।

खिड़की के बाहर नवपल्लवित अशोक के पत्तों में बसंत की हवा मर्मर ध्वनि कर रही थी। अप्रैल की सुबह उदास हो उठी।

2. भारत के इतिहास का संदेश

रवींद्रनाथ ठाकुर

बहरहाल, यदि कोई स्पष्टतः जानना चाहे कि भारत का विशेष महत्व क्या है तो भारत के इतिहास से प्रकट एक सत्य इसका उत्तर है। उसके पूरे इतिहास में सब कुछ के अतिरिक्त विविधता में एकता स्थापित करने का प्रयास लक्षित होता है। विविध मार्गों से सत्य तक पहुंचने, अनेक में सर्वोच्च सत्य के बतौर एक पर संपूर्ण विश्वास जमाने, सतही विरोधों का हनन नहीं बल्कि उनमें अंतर्निहित परस्पर संवाद के उद्घाटन का प्रयास लक्षित होता है।

एकत्व का अनुभव करना और गंभीरता पूर्वक उसका प्रचार करना भारत की प्रकृति में है और उसके इसी स्वभाव ने उसे राजनीतिक गौरव के प्रति उदासीन बनाए रखा है। क्योंकि राजनीतिक महत्वाकांक्षा के मूल में ही विरोध और प्रतिद्वंद्विता की भावना रहती है। केवल वही लोग, जो अपने प्रतिद्वंद्वी को पूरी तरह अलग मानते हैं, अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के बतौर राजनीतिक गौरव को समझ सकते हैं। राजनीति में सफलता की बुनियाद है घातक विरोधों के बीच अपने आपको स्थापित करने का प्रयास, जबकि नैतिक और सामाजिक प्रगति की बुनियाद दूसरों से सहानुभूति के बंधन स्थापित करने का प्रयास, अपनी प्रकृति के विरोधी पहलुओं में संगति स्थापित करने का प्रयास है। यूरोपीय सभ्यता को जिन संश्रयों की उपलब्धि हुई है वे समझौता वार्ताओं पर आधारित हैं, जिस एकत्व पर भारतीय सभ्यता आधारित है वह संगति का बोध है। यूरोप के राजनीतिक संश्रयों में अंतर्निहित संघर्ष की भावना का विरोधियों के विरुद्ध तो उपयोग किया जा सकता है, लेकिन आंतरिक एकता भाव की स्थापना में यह सहायक नहीं हो सकती। क्योंकि यह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, शासक और शासित के बीच, धनी और निर्धन के बीच सदैव एक वैरभाव जीवित बनाए रखती है। ये तत्व अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में सीमित रहकर समूचे सामाजिक ढांचे को सहारा देने के लिए आपस में जुडते नहीं। वे एक दूसरे से शत्रुता रखते हैं और अनवरत अपने प्रतिद्वंद्वी की ताकत में किसी भी बढ़त के विरुद्ध सजग रहने का प्रयास करते हैं। लेकिन ऐसे में कोई शक्ति संतुलन संभव नहीं जहां विभिन्न तत्व एक दूसरे को हमेशा ठेलते और धक्का देते रहें। ऐसे में कभी-कभी

गुण के मुकाबले संख्या का महत्व बढ़ जाता है और अकूत स्रोत संपन्न वाणिज्यिक गठबंधन निजी पूंजी का गला घोंट देते हैं। सामाजिक संगति नष्ट हो जाती है और विभेदी संघर्षरत तत्वों को किसी तरह जोड़गांठ कर साथ रखने के लिए सरकार को कानून पर कानून बनाना पड़ता है। यह अपरिहार्य है क्योंकि यदि विक्षोभ का बीज होगा तो उसमें विसंगति का ही फल निकलेगा।

भारत ने असमान तत्वों को भी एकताबद्ध करने का प्रयास किया है। जहां भिन्नताए वास्तविक हैं, वहां केवल प्रत्येक को उसकी उचित जगह देकर ही एकता को प्राप्त और विभिन्न तत्वों को नियंत्रित किया जा सकता है। एक कानून बनाकर कि सब एक होंगे, एकता नहीं लाई जा सकती। स्वभावतः असमान घटकों के बीच संबंध स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें उपयोगिता के विभिन्न क्षेत्र प्रदान किए जाएं। यदि प्रकृतितः विषम घटकों को बलपूर्वक एक साथ रख दिया जाए तो एक दिन बलपूर्वक वे छिटक जाएंगे, जिसका परिणाम तबाही होगा। भारत एकता के इस रहस्य से वाकिफ था। फ्रांसीसी क्रांति ने मनुष्य और मनुष्य के बीच सभी भेदों को खून से मिटा देने के अपने उद्देश्य की निर्भीक घोषणा की थी। लेकिन परिणाम ठीक उलटा निकला, क्योंकि यूरोप में शासकों और शासितों के बीच, पूंजी और श्रम के बीच संबंध दिनोंदिन तीखा होता जा रहा है। भारत का लक्ष्य सबको एकताबद्ध करना था लेकिन उसके तरीके अलग थे। सामाजिक प्रतिद्वंद्वी और विरोधी शक्तियों के लिए उनकी सक्रियता का क्षेत्रविशेष परिभाषित और तय करके भारत ने नाना प्रकार के कार्यों के संपादन योग्य समरस सामाजिक ढांचा तैयार किया, किसी अंश को अपने क्षेत्रविशेष से बाहर निकलने और संपूर्ण व्यवस्था और संतुलन को गड़बड़ा देने की इजाजत उसने कभी नहीं दी। उसने समाज की विभिन्न शक्तियों को शत्रुता और प्रतिद्वंद्विता की राह पर आगे बढ़ाने के लिए उनमें शाश्वत धक्कामुक्की का चुनाव नहीं किया, क्योंकि इससे फिर घर और कामकाज और धर्म अस्तव्यस्त, दिग्भ्रमित और अराजक स्थिति में पहुंच जाते । अस्मिता की खोज, एकता की प्राप्ति और आध्यात्मिक संतुष्टि और मुक्ति के लिए अपेक्षित सामाजिक स्थिरता और शांति का सृजन; भारत के यही आदर्श रहे हैं।

विधाता ने विविध प्रजातियों के लोगों को भारत की ओर आकर्षित किया है। अत्यंत प्राचीन काल से ही भारत में आर्यों को जो शक्तियां प्राप्त थीं उनके परिष्कार में वह व्यस्त रहा। विविध उपादानों से निरंतर वह सर्वोत्तम मानवीय सभ्यता की बुनियाद डालने में व्यस्त रहा। एक ऐसी सभ्यता जिसका केंद्रीय तत्व एकता का बोध है, उसने किसी को बाहरी कहकर खदेड़ा नहीं, किसी अनार्य को बहिष्कृत नहीं किया, न किसी रीति-रिवाज को बेमेल कहकर उसकी खिल्ली उड़ाई। उसने सबको मान्यता दी और सबको स्वीकार

किया। बाहर से इतना कुछ स्वीकार कर लेने के बाद अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए उपादानस्वरूप प्राप्त सामग्री के समायोजन में कोई क्रम अथवा व्यवस्था लाना आवश्यक है। इन्हें जानवरों के झुंड की तरह ऐसे ही हांका नहीं जा सकता और न ही अपने बीच कट मरने के लिए छोड़ा जा सकता है। उन्हें अलगाना, फिर उचित ढंग से वर्गीकृत करना और फिर एक बुनियादी विचार के इर्दगिर्द एक साथ संयोजित करना आवश्यक है। उपादान सामग्री जहां कहीं से आई हो, उन्हें आपस में जोड़ने वाली ताकत और प्रेरक विचार भारत के अपने रहे हैं।

पश्चिमी सभ्यता सभी विदेशी तत्वों से छुटकारा पाकर अपने आपको खतरे से मुक्त रखने की कोशिश करती है। आज भी हम अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और अफ्रीका में ऐसा देख सकते हैं। कारण यह है कि पश्चिमी समाज में विभिन्न वर्गों में अकसर संगति की जरूरत होती है लेकिन जिन्हें सामाजिक ढांचे का अखंड अंश होना चाहिए उन्हें अकसर अनचाहा बोझ समझा जाता है। एक ऐसे समाज में जहां अपने ही लोगों पर संभावित उपद्रवी होने का संदेह किया जाता हो, विदेशियों के लिए कोई शरणस्थली नहीं हो सकती। जहां व्यवस्था और संगति हो, जहां सबकी अपनी जगह और अपना अधिकार क्षेत्र हो, वहां विदेशी को भी समाहित किया जा सकता है। जहां तक बाहरी लोगों के प्रति रुख का सवाल है, किसी भी देश के सामने केवल दो रास्ते खुले हैं। या तो वह उन्हें मार डाले या भगा दे और इस तरह संभावित खतरे से अपनी रक्षा कर ले या फिर उन्हें अपने ही ढांचे में समायोजित कर ले और अपने अर्थतंत्र में उनको जगह प्रदान करे। पश्चिम ने इनमें से पहला तरीका अख्तियार किया और पूरी दुनिया से संघर्ष और भेद का द्वार खोल लिया।

भारत ने दूसरी राह पकड़ी और एक-एक कर सबसे संबंध स्थापित करने का प्रयास किया। यदि किसी के मन में धर्म के लिए सम्मान है और यदि धर्म का आदर्श (बंधनकारी और जोड़ने वाली शक्ति के रूप में) मानव समुदाय का सर्वोच्च आदर्श होना है तो इसे स्वीकार करना पड़ेगा कि समस्याओं के हल का भारतीय तरीका बेहतर है। शत्रुओं को मित्र में बदलने के लिए बुद्धि वैभव की जरूरत होती है। दूसरों के चित्त में प्रवेश करने और उन्हें प्रेम के जादू से अपनी ओर आकर्षित कर लेने की क्षमता बुद्धि की विशिष्ट संपदा है। भारत में उसी बुद्धिकौशल को काम करते हम देखते हैं। बिना किसी हिचक के उसने दूसरों के चित्त और जीवन में प्रवेश किया है और बाहरी तत्वों को सहर्ष एकत्र कर लिया है। जिसे विदेशी आलोचक मूर्तिपूजा कहते हैं उससे वह कभी डरा नहीं, उस पर कभी नाक-भौं नहीं सिकोड़ी। उसने आदिम जनजातियों से भी बहुत कुछ विरूप और घृणास्पद ग्रहण किया और अपनी आध्यात्मिक कीमियागीरी से उसे रूपांतरित कर दिया।

उसने कुछ भी अस्वीकृत और बहिष्कृत नहीं किया बल्कि सब कुछ को अपना बना लिया।

एकता और संश्लेषण के इस सिद्धांत को हम न केवल उसकी सामाजिक संस्थाओं में बल्कि उसके धार्मिक आदर्शों में भी काम करते देखते हैं। गीता में ज्ञान, प्रेम और क्रिया के बीच संगति का जो प्रयास हम देखते हैं, वह विशुद्ध भारतीय है। भारतीय भाषाओं में कोई शब्द नहीं जो 'रिलिजन' शब्द के ठीक-ठीक मानी बता सके। भारत में धर्म कोई विशेषीकृत गतिविधि नहीं है; इसमें बुद्धि, विश्वास और आचरण शामिल हैं और इसमें इहलौकिक जीवन और इसके परे पारलौकिक जीवन दोनों समाहित हैं। भारत ने धर्म को अलग-अलग खांचों में, कुछ नित्य कर्म और कुछ उत्सव समारोहों के कर्म में बांटा नहीं है। जैसे कि हाथ के लिए एक जीवन और पांव के लिए दूसरा, सिर के लिए एक और पेट के लिए दूसरा जीवन नहीं हो सकते, उसी तरह भारत ने विश्वास के धर्म और कर्तव्य के धर्म, रविवार के लिए एक धर्म और बाकी छह दिनों के लिए दूसरे धर्म, चर्च के लिए एक धर्म और घर के लिए दूसरे धर्म का भेद नहीं खड़ा किया है। भारत में धर्म समूचे समाज का धर्म है, इसके घेरे में स्वर्ग और पृथ्वी और संपूर्ण मानव जीवन आ जाते हैं; यह एक ऐसे शक्तिशाली वृक्ष की तरह है जिसकी जड़ें जमीन में हैं तो चोटी बादलों से मिली हुई है।

भारत सभ्य दुनिया के समक्ष विविधता में एकता के मूर्तिमान आदर्श की तरह खड़ा है। दुनिया में और स्वयं में अद्वैत देखना, अनेक के बीच एक को स्थापित करना, ज्ञान के सहारे इसे आविष्कृत करना, क्रिया के जरिए इसे स्थापित करना, प्रेम में इसे मूर्त करना और जीवन में इसे प्रमाणित करना; सदियों से भारत खतरे और कठिनाई के समक्ष अच्छे या बुरे दिनों में यही करता आया है। जब हम उसके इतिहास के इस केंद्रीय और शाश्वत तत्व को खोज लेंगे तो हमारे अतीत से हमारे वर्तमान को विभाजित करने वाली खाई न रहेगी।

3. रवींद्रनाथ ठाकुर की इतिहासदृष्टि

नामवर सिंह

रवींद्रनाथ की कल्पना शक्ति बुद्धदेव बसु के शब्दों में 'विद्युतधर्मी' थी। बिजली की कौंध की तरह वे सत्य का साक्षात्कार करते थे और पल भर में उसके समग्र रूप को पकड़ लेते थे। यह वही विद्युतधर्मी कल्पना है जिसने झेलम तट के सांध्य गगन में 'शब्द की विद्युच्छटा हंस-बलाका' की झलक देखी थी। भारत के इतिहास की विशिष्ट झलक भी इसी कल्पना की विभूति है। 'गोरा' के बारे में उसके मित्र विनय ने कहा था, 'देश के जिन सब सत्यों को हम लोग खंडित करके बिगाड़कर देखते हैं, गोरा इन सबको एक करके, संश्लिष्ट करके देख सकता है, उसमें इसकी आश्चर्यजनक क्षमता है।' इसका कारण यह है कि 'वह बहुत ऊंचाई से भारतवर्ष को देखता है। उसके लिए भारतवर्ष के छोटे-बड़े सब एक विराट ऐक्य में बंधे हैं, एक बृहत संगीत में घुलमिलकर संपूर्ण दिखाई देते हैं।' यही बात गोरा के विधाता रवींद्रनाथ के बारे में निस्संकोच कही जा सकती है।

इतिहास की यह विद्युच्छटा, जैसा कि वाल्टर बेंजामिन ने कहा है, 'खतरे के क्षण में' झलक मारती है। आखिर इतिहास स्मृति ही तो है, उसे ऐतिहासिक कल्पना कहिए या फिर रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'स्मृत्याभास कल्पना'। बेंजामिन ने खतरे का वह क्षण देखा था, नात्सीवाद की विभीषिका के रूप में। लेकिन रवींद्रनाथ के सामने ऐसा कौन-सा खतरा था?

ध्यान स्वभावतः सबसे पहले अंग्रेजी राज यानी उपनिवेशवाद की ओर जाता है, किंतु ऐसा लगता है कि रवींद्रनाथ की इतिहासदृष्टि अंग्रेजी राज से उतनी आतंकित न थी। 1941 की प्रसिद्ध कविता 'ओरा काज करे' (वे काम करते हैं) में यह संकेत स्पष्ट है। कवि का यह दृढ़ आत्मविश्वास है :

जमाने से दल के दल जन समूह
सुदीर्घ अतीत काल में
जयोद्धत प्रबल गति से आए और चले गए
आए हैं साम्राज्य तो भी पठान
आए हैं मुगल

उनके विजय रथ का पहिया धूल उड़ाता रहा,
उनकी विजय पताकाएं फहराती रहीं
सूने मार्ग की ओर देख रहा हूं
आज उनका कोई चिह्न नहीं है।
दूसरी बार, उसी शून्य के नीचे आए हैं झुंड के झुंड
लौहबद्ध मार्ग से, अनल-निश्वासी रथ पर
प्रबल अंग्रेज
विकीर्ण कर दिया है अपना तेज
जानता हूं काल उनके रास्ते से भी निकल जाएगा
बहा देगा साम्राज्य का विजयग्रासी जाल
न जाने किस ओर!

इस आत्मविश्वास का ठोस आधार है उन साधारण लोगों में कवि की आस्था जो 'चिरकाल रस्सी खींचते हैं, पतवार थामे रहते हैं, नगर में, प्रांत में, समुद्रों और नदियों में, दिन रात गुंथे रहकर दिनयात्रा को मुखरित किए रहते हैं, यानी एक वाक्य में 'जो काम करते हैं/ सौ-सौ साम्राज्यों के भग्नावशेष पर।' कहने की आवश्यकता नहीं कि यह एक भावुक कवि का कोरा आशावाद नहीं, बल्कि इसके पीछे एक निश्चित इतिहासदृष्टि है और उसका एक नाम भी है, सुविदित, सुपरिचित : लोकधर्मी इतिहास।

इसलिए असली खतरा और है : कहीं बाहर से नहीं, बल्कि घर के अंदर से। यह वही खतरा है जिसका ओजस्वी जवाब 'गोरा' (1917) है और जिसके दूसरे पहलुओं पर तेज रोशनी डालने के लिए रवींद्रनाथ ने क्रमशः 'घरे बाइरे' (1916) और 'चार अध्याय' (1934) नामक उपन्यास लिखे। इस खतरे का पहला स्पष्ट उल्लेख कवि की जिस रचना में मिलता है वह है 1895 का एक साहित्यिक निबंध 'बंगला जातीय साहित्य'। यह बंगीय साहित्य परिषद के प्रथम अधिवेशन में पढ़ा गया भाषण है। इस भाषण का उल्लेखनीय अंश है :

> आज हम साहित्य की धारा को पकड़े हुए हिंदुत्व के उस बृहत, प्रबल, बहुमुखी, सचल, तटगठनशील, सजीव स्रोत पर बहते हुए इस काल से उस काल में नहीं जा सकते। आज हम उसी सूखे रास्ते के बीच-बीच अपनी अभिरुचि और आवश्यकता के अनुसार तालाब खोदकर उसी को हिंदुत्व कहकर पुकारते हैं। यह बंधा हुआ, क्षुद्र, विच्छिन्न हिंदुत्व हमारा व्यक्तिगत संबंध है, उसमें कोई मेरा हिंदुत्व है, कोई तुम्हारा हिंदुत्व है, वह कण्व-कणाद, राघव-कौरव, नंद-उपनंद और

> हमारे सर्वसाधारण का तरंगित प्रवाहित अखंड विपुल हिंदुत्व है कि नहीं, इसमें संदेह है।

यही वह 'बंधा हुआ, क्षुद्र और विच्छिन्न हिंदुत्व' है जिससे मुक्त करने के लिए गोरा पर रवींद्रनाथ ने आकस्मिक 'आघात' किया था और इस तरह उसे प्रत्यभिज्ञान हुआ कि वह पूरे भारत का है।

प्रश्न यह है कि इस संकीर्ण 'हिंदुत्व' का उदय कैसे हुआ? और यहीं रवींद्रनाथ की इतिहासदृष्टि की विशिष्टता प्रकट होती है। उसी 'बंगला जातीय साहित्य' शीर्षक निबंध में रवींद्रनाथ ने दिखलाया है कि इस संकीर्णता का उदय अपनी परंपरा से जीवंत संबंध टूट जाने के कारण हुआ है। सच तो यह है कि हमारी परंपरा ही खंडित हो गई। कवि की बिंबधर्मी भाषा में :

> उस काल के विचारस्रोत, भावस्रोत, प्राणस्रोत की आदिगंगा सूख गई हैं, बस उस नदी की तलहटी में जहां-जहां पानी रुक गया है, वह किसी बहती हुई आदिमधारा से परिपुष्ट नहीं, उसका कितना पानी पुराना और कितना पानी आधुनिक लोकाचार की दृष्टि से संचित है, कहना कठिन है।

जिसे हम परंपरा कहते हैं, वह रवींद्रनाथ के लिए 'इतिहासधारा' है। इस इतिहासधारा के अवरुद्ध होने का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि हम यह समझने की क्षमता भी खो बैठे कि प्राचीन पूर्व पुरुषों के साथ हमारा पार्थक्य कहां है? हम सोचते हैं कि उस समय के भारतवर्ष के साथ आज के युग का भेद केवल नए-पुराने का भेद है। उस समय जो चीज उज्ज्वल थी आज वह मलिन हो गई है, उस समय जो चीज दृढ़ थी वही आज शिथिल हो गई है। अर्थात हमीं को अगर कोई सोने के पानी की पालिश करके थोड़ा-बहुत चमका दे तो इसी से वह अतीत भारतवर्ष सशरीर लौट आएगा।

विडंबना यह कि निरंतरता के खत्म होते ही अतीत और वर्तमान के बीच की पृथकता का बोध भी नष्ट हो जाता है। यह इतिहास का द्वंद्वन्याय है और रवींद्रनाथ की इतिहासदृष्टि से यह ओझल नहीं है। पुनरुत्थानवाद इतिहास की इसी विडंबना की उपज है। जहां इतिहासधारा अव्याहत और अविच्छिन्न होती है, अतीत को फिर से लौटाने की आवश्यकता ही नहीं होती। अतीत के आमूल लोप की स्थिति में ही पुनरुत्थान या पुनर्जागरण का नारा बुलंद होता है। रवींद्रनाथ की बुनियादी आपत्ति पुनर्जागरण की धारणा मात्र से थी। उनका जोर अतीत और वर्तमान के बीच के ऐतिहासिक अंतर पर था। 'सेकाल' (1900) शीर्षक कविता में कालिदास के बहाने से इसी बात को और अच्छे ढंग से किंचित विनोद

के साथ कहा है। कविता शुरू होती है : 'आमि यदि जन्म नितेम कालिदासेर काले' अर्थात यदि 'मैं कालिदास के काल में जन्म लेता' से, फिर कालिदास के काल का कल्पनारंजित भव्य कल्पनालोक रचने के बाद अंत में रवींद्रनाथ कहते हैं :

मरब न भाई, निपुणिका चतुरिकार शोके..,.
तार सबाइ अन्य नामे आछेन मर्त्य लोके।
आपातत एइ आनंदे गर्वे बेड़ाइ नेचे...
कालिदास तो नामेइ आछेन, आमि आछि बेंचे।
ताहार कालेर स्वाद गंध आमि तो पाइ मदुमंद,
आमार कालेर कणामात्र पाननि महाकवि।

'मरूंगा नहीं भाई, निपुणिका चतुरिका के शोक में। वे सभी दूसरे-दूसरे नामों से मृत्युलोक में वर्तमान हैं। इस समय तो इसी आनंद और गर्व में नाचता फिरता हूं कि कालिदास तो नाम से ही जीवित है, लेकिन मैं बचा हुआ हूं। उनके काल का स्वाद गंध तो हलका-हलका मैं पी लेता हूं, लेकिन मेरे काल का कणमात्र भी महाकवि न पा सके।'

अतीत की तुलना में वर्तमान यदि शोक का विषय नहीं है तो गर्व का भी विषय नहीं। शायद इसी बात की ओर इंगित करते हुए रवींद्रनाथ कविता का अंत इस विडंबनापूर्ण पंक्ति से करते हैं : 'कालिदास के हारिए दिए गर्वे बेड़ाइ नेचे।' अर्थात कालिदास को हराकर गर्व से नाचता फिरता हूं।

उन्नीसवीं शताब्दी के तथाकथित भारतीय पुनर्जागरण में विडंबना का यह स्वर दुर्लभ है। रवींद्रनाथ इस पुनर्जागरण के पुरस्कर्ताओं में से एक होते हुए भी वस्तुतः पुनर्जागरण की आलोचनात्मक आवाज थे। उनकी इतिहासदृष्टि ने बहुत पहले ही इस सत्य का साक्षात्कार कर लिया था कि हिंदू पुनरुत्थानवाद तथाकथित पुनर्जागरण की धारणा में अंतर्निहित है। कवि की दृष्टि में यह 'इतिहास की विडंबना' है, जिसका मूर्तिमान प्रतीक 'गोरा' है, अपने हिंदुत्व पर गर्व करने वाला गौर मोहन।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ का भारतीय राष्ट्रवाद इसी हिंदू पुनरुत्थानवाद का अगला चरण है किंतु उसकी चकाचौंध भी रवींद्रनाथ की देशभक्ति को अंध न बना सकी। 1905 के बंगभंग के विरोध में उठे 'स्वदेशी' आंदोलन का नेतृत्व करने के बावजूद उन्होंने उग्र राष्ट्रवाद का प्रतिवाद करना जरूरी समझा। यह उग्र राष्ट्रवाद रवींद्रनाथ की देशभक्ति के लिए वैसे ही खतरा था, जैसे उनके हिंदुत्व के लिए हिंदू पुनरुत्थानवाद। उन्होंने राष्ट्रवाद के विरोध में आवाज उस समय उठाई जब राष्ट्रीय जागरण पूरे उभार पर था। यह साधारण साहस नहीं। सार्वजनिक लांछना सहते हुए भी उनका कवि एक ओर 'भारत तीर्थ' जैसा

देश प्रेम का गीत लिखता रहा और दूसरी और 'घरे बाइरे' जैसे उपन्यास के द्वारा राष्ट्रवाद की सीमाएं बताता रहा। इसी क्रम में आगे चलकर असहयोग के प्रश्न पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी से रवींद्रनाथ की मुठभेड़ भी हुई, जिसका ऐतिहासिक दस्तावेज 'सत्य का आह्वान' (1921) शीर्षक निबंध है। सत्य सचमुच किस पक्ष की ओर था, यह संभवतः आज भी विवाद का विषय हो, पर इसमें कोई शक नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलन के उस 'तुमुल कोलाहल' में विवेक की वाणी कवि रवींद्रनाथ ही थे। और इस विवेक का आधार भी एक निश्चित इतिहासदृष्टि है।

इतिहास अंततः एक 'नैरेटिव' या आख्यान है और रवींद्रनाथ की ऐतिहासिक कल्पना में भी भारत विषयक आख्यान का एक निश्चित ढांचा था। इस ढांचे का सबसे मुकम्मल रूप 'भारतवर्षे इतिहासेर धारा' (1912) शीर्षक प्रबंध में मिलता है। यहां कवि ने भारतीय इतिहास के अंतर्गत परिवर्तन और विकास का एक नियम खोजा है। वह नियम संक्षेप में आत्मरक्षण और आत्मप्रसारण का अनवरत चक्र है। पुराण गाथाओं की अभिनव व्याख्या के द्वारा इस नियम को पुष्ट भी किया गया है। यह सब कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा का चमत्कार है। वैदिक युग से मध्यकाल तक के भारत का लंबा इतिहास जिस कौशल से कुछ ही पृष्ठों में समेटकर रख दिया गया है, वह निश्चय ही एक सुगठित आख्यान की बड़ी भारी सफलता है। किंतु प्रसंगवश 'रामायण' की रामकथा के परवर्ती क्षेपकों की जो राजनीतिक व्याख्या की गई है उससे अपने इतिहास के बारे में हमें एक नई दृष्टि मिलती है। रवींद्रनाथ लिखते हैं :

> क्षत्रिय रामचंद्र ने एक दिन गुहक चांडाल को अपने मित्र के रूप में स्वीकार किया था, यह जनश्रुति आज तक उनकी आश्चर्यजनक उदारता का परिचय देती आ रही है। परवर्ती युग के समाज ने 'उत्तरकांड' में उनके इस चारित्र्य-महात्म्य से ध्यान हटाना चाहा। शूद्र तपस्वी को रामचंद्र ने वध दंड दिया, इस अपवाद पर ही बल देकर 'परवर्ती समाज' रक्षकों ने रामचरित्र को अपने विचार पक्ष के अनुकूल बनाना चाहा।

इसी प्रकार 'उत्तरकांड' के दूसरे क्षेपक 'वैदेही वनवास' का उदाहरण देने के बाद रवींद्रनाथ फिर कहते हैं कि :

> रामचरित्र में सामाजिक संघर्ष का जो इतिहास था उसके चिह्न यथासंभव मिटाकर उसे परवर्ती काल में नए युग के सामाजिक आदर्श के अनुगत बनाया गया। उसी समय रामचरित्र को गृहधर्म और समाजधर्म का आश्रय मानकर उस रूप में प्रचार करने का प्रयत्न किया गया। किसी दिन रामचंद्र स्वजाति को विद्वेष की संकीर्णता

से प्रेम की व्यापकता की ओर ले गए थे, लेकिन उनका यह कार्य विस्मृत होकर क्रमशः यह बात सामने आई कि वे शास्त्रानुमोदित गार्हस्थ्य के आश्रय और लोकानुमोदित आधार के रक्षक थे।

इन बातों को पढ़कर एक बार फिर हठात वाल्टर बेंजामिन का यह कथन याद आता है कि 'दुश्मन के हाथों मृतक भी सुरक्षित न रहने पाएंगे।' यहां तो भगवान राम ही सुरक्षित नहीं, फिर सामान्य मृतकों की कौन कहे। मौत के सौदागर मुर्दों से भी डरते हैं। फिर भी वे अपने आपको इतिहास का रक्षक कहते हैं। ऐसे रक्षकों से इतिहास की रक्षा करने का दायित्व, रवींद्रनाथ के अनुसार, सच्चे इतिहासकार पर है। 'भारतवर्षे इतिहासेर धारा' भारत के इतिहास की रक्षा का ऐसा ही प्रयास है।

इस निबंध का एक अन्य उल्लेखनीय प्रसंग है जहां रवींद्रनाथ महाभारत के माध्यम से इतिहासलेखन पद्धति की चर्चा करते हैं। आखिर 'महाभारत' रचने की आवश्यकता क्यों पड़ी? क्यों और कब? रवींद्रनाथ के अनुसार बौद्ध प्लावन के कारण सारी व्यवस्था इस हद तक भूमिसात हो चुकी थी कि बिखरी जनश्रुतियों के रूप में बचे-खुचे इतिहास को एक जगह बटोरने की जरूरत महसूस हुई। इस प्रकार कवि के शब्दों में, 'हम कौन हैं, कौन सी वस्तु हमारी है, इस सत्य को विश्लिष्टता के बीच ढूंढ़ने का महान युग आ गया था। इसी युग में भारतवर्ष ने अपने आपको भारतवर्ष कहकर सीमा चिह्नित किया।'

इस विशाल संग्रह की विशेषता यह है कि इसमें बहुलता, विविधता, असंगति और पार्थक्य को उदारता के साथ पूरी तरह सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया। फिर भी आख्यान की ऐसी शैली अपनाई गई जिसमें एक धारावाहिक परिधिसूत्र के साथ ही एक निश्चित केंद्र भी हो। कौरव-पांडवों की कहानी परिधि है तो गीता का उपदेश केंद्र। तार्किक असंगति की परवाह न करते हुए परिधि के समान ही केंद्र में विविध जीवनदृष्टियों को सुरक्षित रखा गया। आज भी गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति के बीच की फांक देखी जा सकती है। इसी बात को कवि ने फिर एक रूपक के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यह रूपक है : आतशी कांच! वे कहते हैं, 'आतशी कांच के एक ओर व्यापक सूर्यालोक होता है और दूसरी ओर केंद्रित किरणें।' इसी तरह 'महाभारत एक ओर व्यापक जनश्रुति है और दूसरी ओर उसकी केंद्रित ज्योति। यह ज्योति है भगवद्गीता।'

मन में सहज ही यह जिज्ञासा पैदा होती है कि क्या स्वयं रवींद्रनाथ के पास भी वह 'आतशी कांच' था? उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि 'इतिहास में मनुष्य का चित्त एक चरम तत्व का अनुसंधान और उपलब्धि करता है। बहुत से लोग सोचते हैं कि पथ का इतिहास ही इतिहास है, मूल अभिप्राय और चरम गम्यस्थान कुछ भी नहीं है।' किंतु

इसके विपरीत रवींद्रनाथ का यह दृढ़ विश्वास था कि भारत ने एक दिन अपने समस्त इतिहास में एक चरम तत्व को देखा था, इसलिए कोशिश करे तो उस चरम तत्व को आज भी देख सकता है। इस आग्रह के कारण उनका 'आतशी कांच' सूर्य की केवल केंद्रित किरणें विकीर्ण कर सका, सूर्य का व्यापक आलोकमंडल उसकी सीमा से बाहर ही रहा। इसीलिए वे गीताधर्मी कृतियां तो रच सके पर 'महाभारत' का विस्तार उनकी पहुंच से परे ही रहा। गोरा भी कुछ रवींद्र भक्तों की स्तुति के बावजूद 'महाभारत' नहीं बल्कि रवींद्रनाथ की 'गीता' ही है।

इसाया बर्लिन ने लेव तोल्सतोय के इतिहासदर्शन के सिलसिले में यह दिलचस्प सवाल उठाया है कि वे वस्तुतः लोमड़ी के स्वभाव के थे अथवा साही के। पश्चिमी लोक विश्वास के अनुसार लोमड़ी छोटी-छोटी हजारों बातें जानती है, जबकि साही सिर्फ एक बड़ी बात जानता है। यदि रवींद्रनाथ की इतिहासदृष्टि को इस सांचे में जांचें तो बेहिचक कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि एक बड़े सत्य पर थी। छोटे-छोटे ब्योरों में उनकी अधिक रुचि शायद न थी।

आकस्मिक नहीं कि 1923 में जब उन्होंने 'भारतवर्षेर इतिहासेर धारा' को अंग्रेजी में फिर से लिखा तो उसका शीर्षक A Vision of India's History रखा। 'धारा' का स्थान 'विजन' ने ले लिया। वे काव्य के समान इतिहास के क्षेत्र में भी 'विजन' या झलक के कायल हैं। वे द्रष्टा हैं दृष्टि देते हैं। धारा को भी वे झिलमिल झलक के रूप में देखते हैं। भारत का इतिहास भी उनके लिए एक 'हंस बलाका' है, वह बलाका नहीं जिसे हजारों लोग हजार बार देख चुके हैं, किसी एक द्वारा किसी एक क्षण में देखी हुई कोई एक हंस बलाका! आकाश के एक छोर से दूसरे छोर को पल भर में माप लेने वाली ज्योति रेखा, जो अंत में अपने पीछे यह व्याकुल वाणी छोड़ जाती है :

हेथा नय, अन्य कोथा, अन्य कोथा, अन्य कोन् खाने!
यहां नहीं, कहीं और, कहीं और, और कहां!

●●●